ग्रामचिन्तन



राजराजेन्द्र कर्नल,
मालोजीराव नृसिंहराव शितोले

प्रकाशक—
विद्यामन्दिर,
मुरार (ग्वालियर)

प्रथम संस्करण
संवत् १९९९ वि०
मूल्य १॥) रु.

मुद्रक
आलीजाह दरबार प्रेस,
ग्वालियर

परिचय

एक बार इन पृष्ठों पर दृष्टि डालने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनके पीछे एक ऐसी आत्मप्रेरणा का स्वर छिपा हुआ है जिसमें ग्रामों की जनता के प्रति अगाध प्रेम है और है उनके उद्धार की उत्कट इच्छा। पुस्तक के प्रत्येक शब्द से उसके लेखक की स्वजनों के प्रति आत्मीयता, उदारता तथा विशालहृदयता स्पष्ट लक्षित होती है। ग्रामों की समस्याओं को लेखक ने सूक्ष्म दृष्टि से देखा है, उनके विषय में सच्चाई और गंभीरता के साथ सोचा है तथा उनके सुलझाने में उदारतापूर्वक योग दिया है। ऐसी दशा में उनका प्रत्येक शब्द ग्राम-सुधार का व्रत लेनेवालों के लिए उपयोगी होगा, इसमें शंका को स्थान नहीं हो सकता।

राजराजेन्द्र शितोले साहब के ग्राम-सुधार सम्बन्धी विचारों की परिचायक यह पुस्तक है तथा इस क्षेत्र में उनके प्रत्यक्ष कार्य का परिचय प्राप्त होगा उनके अधिकार-क्षेत्र पोहरी-जागीर में उनके तत्त्वावधान में होनेवाले ग्राम-सुधार के सफल प्रयोगों द्वारा। जब ब्रिटिश-भारत तथा अन्यत्र ग्राम-सुधार केवल योजनाओं तक ही सीमित रहा, उस समय शितोले साहब का उदार-संरक्षण तथा आदर्श-सेवा-संघ के कार्यकर्ताओं का सच्चा सहयोग मणिकांचन संयोग बनकर पोहरी-जागीर के ग्रामवासियों का वास्तविक हित-साधन कर सका है। नीचे की पंक्तियों द्वारा उनके व्यक्तित्व का संक्षिप्त परिचय देना मात्र अभीष्ट है।

शितोले-वंश मराठा इतिहास में एक मुख्य स्थान रखता है। जिस समय पुण्यश्लोक श्रीमन्त महादजी महाराज शिन्दे ने अपना राज्य-विस्तार दिल्ली तक किया उस समय से शितोले-वंश के पूर्वज उनके प्रधान सामन्तों में से थे। फलतः उन्हे ग्वालियर राज्य में सबसे बड़ी जागीर तथा प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। शिन्दे वंश के प्रति जो राजनिष्ठा उस समय के शितोले सामन्तों में थी, आज

भी वह यथावत् विद्यमान है। स्वामिभक्ति का पाठ यदि किसी को सीखना हो तो शितोले साहब से सीखे; शिन्दे सरकार के प्रति उनकी 'स्वामिनिष्ठा' अनुकरणीय है।

राजराजेन्द्र मालोजी नृसिंहराव शितोले का जन्म माघ कृष्ण ३, संवत् १९५२ वि० को हुआ और वैशाख बदी ९, संवत् १९५८ वि० को वे इसी प्रतिष्ठित शितोले-वंश के सामन्त-पद के अधिपति हुए। बाल्यकाल से ही ये स्वर्गीय श्रीमन्त सरकार माधवराव महाराज के बहुत स्नेह-भाजन थे। स्वर्गीय महाराजा जैसे प्रख्यात राजनीतिज्ञ तथा व्यवहार-कुशल नरेश की देखरेख और संरक्षण में शिक्षा-दीक्षा होने के कारण इनमें अनेक सद्गुण अनायास आगये। आज जो कार्यक्षमता, बहुज्ञता, दूरदर्शिता तथा प्रजा-प्रेम शितोले साहब में है, वह स्वर्गीय माधव महाराज की सुशिक्षा तथा सुसंगति का परिणाम है।

शितोले साहब का अध्ययन बहुत विस्तृत तथा व्यापक है। इतिहास का उन्हें बहुत गम्भीर ज्ञान है। उनका निजी पुस्तकालय बहुत विशाल है। धर्म-ग्रन्थों का, विशेषतः गीता, नीतिशास्त्र तथा पुराणों का भी उन्होंने अच्छा अध्ययन किया है। आपने गीता तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों का प्रचार पोहरी जागीर के विद्यालयों में भी कराया है जिसका शुभ परिणाम थोड़े समय में ही प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है।

आपकी अनेक बार की विदेश-यात्रा तथा इतिहास-ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा आपका अंग्रेजी भाषा का ज्ञान भी मँज गया है। परन्तु आपका अध्ययन केवल पुस्तकों तक ही सीमित नहीं रहा। घोड़े की सवारी और अस्त्र-शस्त्र संचालन का तो आपने अच्छा अभ्यास किया ही है, साथ ही अश्वपरीक्षा का क्रियात्मक ज्ञान भी प्राप्त किया है। आपने 'अश्वपरीक्षा' नामक पुस्तक लिखी है। राजकरण में छोटे से पद से प्रारंभ करके आज आप ग्वालियर शासन के सचिव के पद को सुशोभित कर रहे हैं।

शितोले साहब को निकट से देखने पर उनकी दो चार विशेषतायें किसी को भी आकृष्ट किये बिना नहीं रहतीं। सर्व प्रथम है उनके हृदय की शालीनता। जितने बड़े वह बाहर से हैं, हृदय उनका उससे कहीं बढ़कर है। सिवाय उक्त

सिद्धान्तों शितोले साहब को साधारण अथवा घटिया दर्जे के काम तथा बातचीत में रुचि लेते हुए सम्भवतः किसीने न देखा होगा। किसी प्रलोभन तथा निजी स्वार्थ के लिए सत्य, शुद्ध नीति-मार्ग से विचलित होना उनके लिये सम्भव ही नहीं। अपने स्वार्थ की तो जैसे वह बात ही नहीं करना जानते। उसी प्रकार परनिन्दा अथवा अपने शत्रु का भी अहित करना तो दूर रहा, उस दिशा में सोचना भी उनके लिये संभव नहीं। उनके आजन्म साथ रहने वाले भी यह न देख सके कि शितोले साहब ने किसी को हानि पहुँचाने का सोचा हो अथवा किसी की निन्दा की हो। इन बातों के लिए वह बहुत ऊँचे हैं, और इस दृष्टि से उनका व्यक्तित्व श्रीमन्तों की अपेक्षा तुलसीदासजी के 'साधु-चरित' का वस्तु-पाठ है।

उनकी दूसरी विशेषता है, जीवन की सर्वांगीण सरलता। बातचीत, व्यवहार, रहन-सहन, वेष-भूषा, सब सरल और सादा होगा। कृत्रिमता अथवा बनावट का लेश कहीं न होगा। कभी कभी तो वह सरलता की सीमा से भी बढ़ जाते हैं और जानबूझकर कष्टसहिष्णुता का शरीर को अभ्यासी बनाने का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। लश्कर की अतिशय गर्मी में, अत्यन्त धूप में बिना छाता अथवा टोपी लगाये हुए घंटों खड़े रहना और काम करना, सवारी के अनेक साधन होने पर भी पैदल चलना, अनेक नौकर पास में होने पर अपने ही हाथ से काम करना, अपनी वस्तु स्वतः ही उठाकर ले चलना—यह सब उनके सरल और स्वावलम्बी जीवन के प्रयोग हैं, जिन्हें वह प्रतिदिन स्वयं करते हैं और अपने समीपवर्ती अन्य लोगों को वैसी स्वावलम्बी और सिपाहियाना वृत्ति का पाठ पढ़ाते हैं। इनको यदि कोई व्यसन हैं तो केवल देसी पत्ते की बीड़ी और दो एक कप चाय का, तथा जागने से लेकर सोने तक निरन्तर कार्य में लगे रहने का।

इनकी सबसे बड़ी विशेषता है इनका पोहरी-प्रेम। आप पोहरी की चर्चा कीजिये, ऐसा ज्ञात होगा कि सरदार साहब का मन नाच उठा। पोहरी-जागीर की प्रजा के हित-चिन्तन से वे कभी थकते नहीं, उसे कार्यरूप में परिणत करने से वे कभी रुकते नहीं। अनेक बार पोहरी की बनी दियासलाई की टेढ़ी-मेढ़ी

सीकों को जलाने के प्रयास से उनके पोहरी-प्रेम का अजीब उदाहरण मिलता है। यह पुस्तक भी उन्हीं के संकेत के कारण पोहरी के बने कागद पर छपी है।

शितोले साहब का भारतीय संस्कृति और हिन्दुत्व का प्रेम भी आदर्श है। इस आयु में उन्हें संस्कृत के अध्ययन का प्रयास करते देखकर आश्चर्य ही होता है। भारतीय संस्कृति के प्रेम के कारण ही वे संस्कृत, मराठी तथा हिन्दी के कट्टर पक्षपाती हैं। उनकी आँखों के सामने संस्कृत के प्रचार और प्रसार की कल्पना नाचती रहती है, और वे उसे सफलीभूत करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हैं। संस्कृत-ग्रन्थों में दर्शन, विज्ञान, कला, ज्योतिष, गणित आदि की पूर्णता की खोज करना उनकी प्रधान वृत्ति है। शितोले साहब उन व्यक्तियों में हैं जो संस्कृत को देश की मातृभाषा बनाने के पक्षपाती हैं, और प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों की खोज द्वारा देश को अर्वाचीन विज्ञान और कला के मूलतत्व प्राप्त होने की सम्भावना देखते हैं।

आप जो सोचते हैं, गहराई और सच्चाई के साथ सोचते हैं, और जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उसे दृढ़ता के साथ पकड़ लेते हैं। उनको उनके मन्तव्य से च्युत करना सरल नहीं है और इसी कारण कभी-कभी लोग उन्हे हठी तक समझने लगते हैं।

शितोले साहब अत्यन्त मिलनसार तथा सहृदय व्यक्ति हैं। साधारण व्यक्ति भी उनसे बात करते समय अपनेपन का अनुभव करने लगता है, वह यह भूल जाता है कि वह किसी बहुत बड़े व्यक्ति से बात कर रहा हो। उनकी यह मधुरता उनके परिवार में, उनके राजकरण में, उनके आसपास के वातावरण में पूर्णतः परिव्याप्त है।

ऐसा है वह व्यक्तित्व जिसने अपनी जागीर के ग्रामों की दशा को सुधारने का पिछले २० से अधिक वर्षों से प्रयत्न किया है। आगे के पृष्ठ ग्राम-सुधार के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति रखनेवाले व्यक्ति के विचार नहीं, वह एक ऐसे व्यक्ति के विचार हैं जिसने इस दिशा में बहुत कुछ किया है, बहुत कर रहा है और आगे बहुत करने की सम्भावना है।

शितोले साहब का ग्राम-सुधार सम्बन्धी विचार-संग्रह प्रकाशित करते हुए विद्यामन्दिर प्रकाशन गौरवान्वित हो रहा है। इसमें उनके पोहरी जागीर में समय-समय पर होनेवाली ग्राम-सुधार परिषदों के भाषण, ग्राम-केन्द्रों को सुसंचालित करने के लिए कार्यकर्त्ताओं तथा ग्रामवासियों को दिये हुए उपदेश एवं मार्ग-प्रदर्शनों का संग्रह है। ग्राम-सुधार के विषय के एकमात्र ध्येय को लेकर चलनेवाले आदर्श-सेवा-संघ द्वारा संचालित तथा बम्बई से प्रकाशित प्रसिद्ध पत्र 'रूरल इण्डिया' मासिक-पत्र में यह अंग्रेजी में निकल चुके हैं।

यह पुस्तक साहित्यिक प्रयास न होकर ग्राम-क्षेत्र में कार्य करनेवालों के लिये मार्गदर्शिका है अथवा ग्राम-समस्याओं को समझने का प्रयत्न करनेवालों के लिए सूचना-पुस्तक है। यही कारण है कि पाठकों को इसमें कहीं कहीं पुनरुक्तियाँ भी दिखाई देंगी। लेखक ने इसके एक दो अध्याय मूल में अंग्रेजी में लिखे थे, उनका अनुवाद उतनी सरल और स्पष्ट शैली में नहीं हो सका जिसमें स्वयं सरदार साहब लिखते हैं।

हम किन शब्दों में शितोले साहब का आभार प्रदर्शन करें जिन्होंने हमें गौरव प्रदान करने के हेतु इन निबन्धों पर एक बार और दृष्टि डालकर इन्हें प्रकाशित करने की अनुमति दी है। आदर्श-सेवा-संघ के उदार संचालक और कार्यकर्त्ताओं के सहयोग तथा सहायता के कारण हमारा कार्य बहुत सरल और सुगम हो गया। इसके लिए हम उनका उपकार शब्दों में किस प्रकार प्रकट करें, शब्दों से तो हमारे और उनके अत्यन्त निकट सम्बन्ध का अपमान ही होगा।

यदि हमारे इस प्रयास का समुचित स्वागत हुआ, जिसका हमें विश्वास है, तो हम आगे इस दिशा में अन्य प्रयास करने का साहस करेंगे।

मुरार,
महाशिवरात्रि,
१९९९

—प्रकाशक।

विषय-सूची ।

ग्रामचिन्तन

ग्राम-पंचायत तथा उसके कर्तव्य

*आपने मेरा और मेरे परिवार का जो स्वागत किया है उसका मैं अपनी तरफ से आभार मानता हूँ। इस हलके के निवासियों ने ग्राम-सुधार के काम की तरफ, अर्थात् खुद के सुधार की ओर ध्यान दिया है, यह देखकर मुझे बहुत आनन्द होता है।

मुझे आशा है कि जिस उत्साह से इस वक्त आपने ग्राम-सुधार का काम शुरू किया है, उसी उत्साह से आप इसको बराबर चालू रखेंगे। संस्थान ग्राम-सुधार के केंद्रों को आर्थिक सहायता उनके पंचों की मार्फत देने के लिये हर समय तैयार है, लेकिन यह

---

*देवरी केन्द्र पर "पोहरी जागीर ग्राम-सुधार-परिषद" के अवसर पर दिया गया भाषण।

इसी के साथ जो संस्थायें कायम की जाती हैं, उनके ऊपर निगरानी रखें और देखें कि वे जिस काम के लिये कायम की गई हैं, वह काम वे पूर्ण कर रही हैं, या नहीं। इसकी जानकारी मुझे सीधे या तहसील के द्वारा भेजी जा सकती है, जिस पर से मुझको उसकी जाँच करने का और देखने का भी अवसर मिल सकता है। यहाँ के मौजूदा सुधार को देखते हुए यहाँ के केन्द्र को, देवरी, मचा कलां, बरखेडा, रिजोदा, अमरोदा, भानगढ और गणेशखेड़ा के केन्द्रोंका लिहाज करते हुए, मैं आगे के सुधार के लिये फिलहाल कुछ वार्षिक देणगी निश्चित करता हूँ। इस देणगी का उपयोग व्यक्तिगत काम के लिये न किया जाकर सार्वजनिक आवश्यकताओं को दूर करने में किया जावे और उसका हिसाब पंचायत के कार्यालय में ठीक तरह से रखा जावे।

मैं आपसे क्या क्या आशायें रखता हूँ, यह प्रकट कर चुका हूँ, और मुझे आशा है कि आप इन सबको पूरा करेंगे।

ग्राम-पंचायत के कर्तव्यों का विवेचन

हमारे देश के ग्रामों की दशा किस प्रकार अच्छी हो, और किसान वर्ग कैसे सुखी और सम्पन्न हो ? ऐसी स्वाभाविक इच्छा सदैव से मनमें होने के कारण मैं आरम्भ से ही देश की 'ग्राम-सुधार-प्रगति' का बड़े चाव से अध्ययन करता रहा हूँ। अपनी जागीर के निवासियों का इस दिशा में मैं निरन्तर मार्ग-दर्शन करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। पिछले वर्ष मार्च में, पोहरी—जागीर—ग्राम—सुधार परिषद के समय ग्राम-पंचायतों के पथ-प्रदर्शन के लिये, मैंने १४ कलमें बनाकर पंचायतों को दी थीं और उनके अनुसार काम करने को कहा था। मुझे यह जानकर आज प्रसन्नता है कि इस डेढ़ वर्ष में मेरे कहने के अनुसार चलकर जागीर की ग्राम-पंचायतों ने सन्तोषजनक उन्नति की है। जागीर की प्रजा के

निरीक्षण के अनुभव से मैं यह कह सकता हूँ कि ग्रामों में अपनी दशा सुधारने की भावना उत्पन्न हो रही है, जिसको मैंने सदैव प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया है और उनके साथ रहकर निरन्तर उसे प्रगति देने की चेष्टा की है। ग्राम-पंचायतों के इतने समय के निरीक्षण से मैं यह अनुभव करता हूँ कि लोगों को आपस में मिलजुलकर अपनी उन्नति करने के अधिक से अधिक अवसर दिये जाना चाहिए। इस बात का ध्यान रखने की अवश्य आवश्यकता है कि लोगों की शक्ति का अपव्यय अथवा दुरुपयोग न होकर उसका सदुपयोग हो। इसलिये पहले बतलाये हुए ग्राम-पंचायतों के कर्तव्यों पर आज थोड़ा और प्रकाश डालने की आवश्यकता मालूम हुई है। (इस अध्याय को पिछले अध्याय के साथ पढ़ना उपयोगी होगा)।

ग्रामों का नैतिक तथा आध्यात्मिक संगठन

पिछले अध्याय की कलम नम्बर ३ व ४ में बतलाया गया है कि ग्राम-पंचायतें अपने ग्रामों के मन्दिर व पूजा के स्थानों का सदैव अच्छा प्रबन्ध रखें और ग्रामों में व्याख्यान, कथा और कीर्तन की व्यवस्था रखें। इस नैतिक व आध्यात्मिक शिक्षा के कार्य में वे माफीदार वर्ग से पूरी सहायता लें। इसी काम के लिये उन्हें संस्थान से माफी मिलती है। माफीदारों के क्या कर्तव्य हैं? यह उनको जो संस्थान से परवाने दिये गये हैं, उनमें लिखे हैं। ग्राम-पंचायतों को यह देखना चाहिये कि ग्राम-सुधार के काम में माफीदार वर्ग का किस प्रकार अच्छे से अच्छा उपयोग हो सकता

है । इन माफीदारों में जन-सेवा के पैतृक-संस्कार जन्मजात होना चाहिये, जिनका सदुपयोग ग्राम-पंचायतों को ग्राम-सुधार की इस प्रगति में अवश्य करना चाहिये ।

अभी हाल में माफीदारों को संस्थान से गीता एवं नृसिंह-पुराण आदि धार्मिक पुस्तकें दी गई हैं, ताकि वे उन्हें पढ़कर ग्रामों में लोगों के नैतिक उत्थान के लिये धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार करें । उनका कह कर्तव्य है कि वे प्रत्येक दिन ग्रामवासियों को नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा दें और ग्रामवासी भी उन्हें सुनने के लिये एकत्रित हों और अपनी प्राचीन संस्कृति को जानें । मेरे विचार से ग्रामोत्थान के लिये नैतिक-उत्थान सब से अधिक आवश्यक है । मेरा विश्वास है कि उक्त पुस्तकों के आधार पर दी हुई शिक्षा से लोगों में अपने धर्म और कर्तव्य-पालन की भावनायें पैदा होंगी और उनमें से निराशा और आलस्य दूर होगा ।

गाँवों में डाली जानेवाली सडकें

पिछले अध्याय की कलम नम्बर ६ (ए) में ग्रामों को मिलाने वाली सड़कों की जो चौड़ाई बताई गई है, वह जितनी चाहिए उतनी नहीं मालूम होती । मेरे विचार से सड़कों की चौड़ाई कम से कम २० फीट रखनी चाहिये । ग्रामवालों को सड़कें कैसे डाली जाती हैं, इसका शायद ज्ञान नहीं होगा । ऐसी अवस्था में लोगों की शक्ति का अपव्यय होना सम्भव है । इसलिये आगे सड़क बनाने के काम में नीचे लिखे ढंग से काम लेना चाहिये ।

(अ) पहला वर्ष—

पहली साल में सड़क की लाइन डालना अथवा किनारे बन्दी करना चाहिये और उसके बीच में जो झाड़-झंकड़ या जंगल हो, उन्हें साफ करना चाहिये। इस लाइन डालने व सफाई करने से यह मालूम हो सकेगा कि सड़क की लम्बाई कैसे कम की जा सकती है। और यदि कहीं सड़क में मोड़ है, तो वह कैसे सीधा किया जा सकता है। इसी प्रकार नदी या नालों की रपट या पुल बाँधने की संख्या कम की जा सकती है। सड़क डालते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा जावे कि सड़क के बीच में आये हुए बड़े वृक्ष जहाँ तक हो सके, काटे न जावें, उन्हें बचाया जाय।

(ब) दूसरा वर्ष—

पोहरी जागीर में विशेषतः दो प्रकार की भूमि है—(१) मोरम तथा (२) मार। इस दोनों जाति की मिट्टी से अलग अलग ढंग से काम लिया जावे।

जहाँ मोरम की भूमि हो अथवा जहाँ पास में मोरम बहुत मिलती हो और सरलता से लाई जा सकती हो, वहाँ सड़क बनाते समय नीचे पत्थर बिछाने (Stone Soling) की आवश्यकता नहीं है। परन्तु जहाँ मार जमीन है और जहाँ थोड़ा पानी पड़ने पर कीचड़ हो जाती है, वहाँ पत्थर का सोलिंग अवश्य बिछाना चाहिये। ऐसी भूमि में पहिले साल पत्थर का सोलिंग बिछाना चाहिये और दूसरे साल मिट्टी या मोरम डालना चाहिये।

(स). तीसरा वर्ष—

सड़क पर मिट्टी या कंकरीट डालने का काम तीसरे वर्ष हाथ में लेना चाहिये और कुटाई दुर्मटों से करनी चाहिये। गाँवों में आवागमन की आवश्यकता को देखते हुए, इस ढंग से बनाई हुई सड़क, मेरे विचार से, साधारण देख-भाल के साथ दस वर्ष तक काम दे सकेगी।

ग्रामोद्योग

ग्रामोद्योगों के सम्बन्ध में पिछले अध्याय की १४ वीं कलम को थोड़ा और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। ग्राम में जो चीजें हाथ से बनकर तयार होती हैं, उनके सम्बन्ध में ग्राम-पंचायतों को बड़ी समझदारी से काम लेना चाहिये। उन्हें वही चीजें बनानी चाहिये जिनकी बाजार में माँग हो, अथवा जिन्हें संस्थान या दूसरी संस्थायें आसानी से खरीद सकें। ग्रामोद्योगों को आमदनी का साधन बनाने की अत्यन्त आवश्यकता है। जहाँ जहाँ माल की खपत हो, वहाँ वहाँ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये और लोगों की आवश्यकता और रुचि को ध्यान में रखते हुए माल तैयार करना चाहिये। जो चीजें ग्रामों में बनाई जाती हैं, उनमें जो जो दोष रह जाते हैं, उन्हें दूर करने का निरन्तर विवेक के साथ प्रयत्न होना चाहिये। इस प्रकार धीरे धीरे क्रमबद्ध सुधार के साथ बनी हुई ग्रामों की वस्तुओं की माँग अधिक बढ़ सकेगी और ग्रामबासियों को अच्छा सहायक-धन्धा मिल सकेगा।

ग्राम-समूह

ग्रामों की जन-संख्या आजकल बहुत छोटे-छोटे ग्रामों और खेड़ों में बिखरी हुई है। उनका ऐसा होना ग्रामों की बौद्धिक, आर्थिक, नैतिक, सांस्कृतिक और सभी प्रकार की उन्नति में बड़ा बाधक है। आर्थिक उन्नति की दृष्टि से सब खेतों को एक जगह होने की आवश्यकता कुछ समय से अधिकाधिक मालूम होने लगी है, और दूर-दूर फैले हुए खेतों को एक साथ मिलाने की ओर प्रयत्न भी आरम्भ हो गया है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार मानव-शक्ति किसी राष्ट्र की एक बड़ी सम्पत्ति है। उसका इस प्रकार उपयोग होना चाहिये, जिससे राष्ट्र को अधिक से अधिक लाभ हो सके। खेती की जमीन का इकट्ठा करना (Consolidation of holdings) देश की साम्पत्तिक समस्या के हल करने में बहुत हद तक सहायक होगा।

परन्तु केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। ग्राम-जीवन के और दूसरे अनेक अंग हैं, जिनमें सुधार होना उतना ही आवश्यक है। मेरा विश्वास है कि यह इकट्ठा होने का अथवा समूहवाद का सिद्धान्त ग्राम्यजीवन के दूसरे अंगों से भी लागू होना चाहिये। उदाहरणार्थ, ग्रामों में शिक्षा, सफाई, संस्कृति व सामाजिक-जीवन की उन्नति के लिये क्रमशः मन्दिर, स्कूल, औषधालय, पुस्तकालय, और इसी प्रकार की अन्य उपयोगी संस्थायें स्थापित करनी होंगी। यदि ग्रामों की सर्वांगीण उन्नति का उद्देश्य पूरा करना है, तो ग्रामों में इन संस्थाओं का इस प्रकार एक जाल सा बिछाना होगा, जिससे लोग पूरा पूरा लाभ उठा सकें।

परन्तु जन-संख्या थोड़ी-थोड़ी दूर पर छोटे-छोटे गाँवों और खेड़ों में बँटी होने से यह समस्या कुछ असम्भवसी दिखती है। यह सम्भव नहीं कि ऊपर बताई हुई सब संस्थायें प्रत्येक गाँव में स्थापित की जा सकें, और यदि थोड़ी देर के लिये ऐसा मान भी लिया जाय कि हर एक गाँव में ये संस्थायें स्थापित की जा सकती हैं, तो भी उन पर जो शक्ति और अत्यधिक पैसा खर्च होगा, वह किसी भी प्रकार न्यायानुकूल नहीं माना जा सकता। इसलिये सब दृष्टियों से यही मालूम होता है कि जब तक छोटे-छोटे गाँवों को समूहों का स्वरूप और समूहों को बड़े ग्रामों का स्वरूप नहीं दिया जायगा, तब तक यह समस्या हल नहीं हो सकती। ऐसे एक सामूहिक ग्राम का क्षेत्रफल चार वर्ग मील ठीक होगा, जैसा कि हमारे संस्कृत-ग्रंथों में भी दिया हुआ है। ग्रामों के इस प्रकार समूह-बद्ध होने पर ही इन सांस्कृतिक व शिक्षण संस्थाओं द्वारा हमारा उद्देश्य पूरा हो सकता है और ग्राम स्वावलम्बी बन सकते हैं, जैसा कि सर्वाङ्गीण ग्रामोन्नति का उद्देश्य है। ग्राम-पंचायतों को चाहिये कि वे उनके अन्तर्गत चार वर्ग मील के दायरे में जो छोटे-छोटे ग्राम हों, उनकी मनुष्य संख्या को एक जगह लावें और सब छोटे-छोटे गाँवों को मिलाकर एक बड़ा गाँव बनावें।

आज यह बात कितनी ही कठिन व अव्यावहारिक मालूम हो, लेकिन मुझे बिलकुल सन्देह नहीं है कि जब तक ग्राम-समूह मिला कर बड़े ग्रामों की रचना नहीं की जायगी, तब तक ग्रामों की पूरी उन्नति नहीं हो सकती। गाँवों के सामूहिक रूप ग्रहण करने पर बिखरे हुए खेतों का इकट्ठा होना बहुत सरल हो जायगा।

ग्राम-समस्या पर यहाँ केवल पोहरी जागीर के सीमितक्षेत्र को ध्यान में रखकर ही विचार किया गया है; परन्तु यह सिद्धान्त समस्त देश के विस्तृत क्षेत्र के लिये भी लागू हो सकता है। एक बड़े सामूहिक ग्राम के लिये जो चार वर्ग मील का क्षेत्रफल बताया गया है, उसमें ग्राम की सभी साधारण आवश्यकतायें व सुविधायें आजाती हैं, जैसे, गोचर-भूमि, लकड़ी-ईंधन के लिये जंगल, प्रत्येक परिवार के लिये खाद की कुंडी व घास रखने का स्थान आदि, आदि।

ग्राम पंचायतों का एक आवश्यक कर्तव्य गाँवों की रक्षा करना है। ग्राम-वासियों को डाकुओं से धन-जन की हानि का प्रत्येक समय डर रहता है और बहुधा उन्हें दोनों प्रकार की हानि सहनी पड़ती है। कैलाशवासी श्रीमन्त महाराज माधवराव सिंधिया ने "ग्राम-रक्षक-दल" की योजना तैयार की थी, जिसका उद्देश्य आवश्यक शिक्षा देकर प्रत्येक गाँव में लोगों का एक ऐसा दल तैयार करना था, जो आवश्यकता पड़ने पर चोर डाकुओं से ग्राम की रक्षा कर सके। ऐसी किसी योजना के कार्य में न आने के कारण ही गाँव के लोग कुसमय में अपने धन-जन की रक्षा करने में असहाय व असमर्थ हो रहे हैं। 'ग्राम-रक्षक-दल' की योजना का महत्व व उसकी उपयोगिता इसी से सिद्ध होती है कि आज कई सरकारें अपने यहाँ ये दल स्थापित कर रही हैं, जब कि हम लोग उन्हें भूले हुए हैं। इसलिये मैं अत्यंत आवश्यक समझता हूँ कि प्रत्येक ग्राम में "ग्राम-रक्षक-दल" स्थापित किये जायँ, और ग्राम-पंचायतें उनका चलाना अपना परम-कर्तव्य समझें।

ग्राम-पंचायतें प्राचीन ग्राम-व्यवस्था और आर्य-संस्कृति की सर्वोत्तम स्मारक हैं। उनके पुनरुद्धार में ग्राम-संगठन का आज पूर्ण चित्र दिखने लगा है। ग्राम-पंचायत के नाम से ही प्रत्येक भारतीय के मस्तिष्क में प्राचीन भारत का एक ऐसा स्मृति-चित्र खड़ा हो जाता है, जब कि हमारे ग्राम धन-धान्य पूर्ण, सुखी और सम्पन्न थे, खेती को श्रेष्ठतम उद्योग माना जाता था और ग्राम्य-जीवन का दूसरा अर्थ सुख, समृद्धि और शान्ति था। लेकिन आज वह चित्र बिलकुल पलट गया है। तथापि हमारे लिये यह शुभ चिन्ह की बात है कि ग्रामोत्थान के कार्यक्रम में हम ग्राम-पंचायतों को सबसे पहले पुनरुज्जीवित करने लगे हैं, जिस संस्था की उपयोगिता समय व परम्परा से सिद्ध हो चुकी है।

ग्राम-पंचायतों के अनेक और भारी उत्तरदायित्व हैं जिनको उन्हें पूरा करना है। साधारण दृष्टि से कोई भी आदमी इन बहु-संख्यक कर्तव्यों के भार से घबड़ा सकता है। परन्तु यदि ग्राम-पंचायतों के सदस्य एक मूल सिद्धान्त को पकड़े रहें तो सारी कठिन समस्या सरल हो जाती है और वह सिद्धान्त है 'ग्राम-जीवन' में सहकारिता की भावना उत्पन्न करना'। ग्राम-संगठन का सार एक शब्द 'सहकारिता' अर्थात् आपस में मिलजुलकर काम करने में पाया जाता है जिसका अर्थ है "एक सब के लिये और सब एक के लिये (Each for all and all for each)"।

ग्रामसुधार के तात्विक आधार

*एक वर्ष से कुछ अधिक समय हुआ कि मैं आप के इस देवरी-केंद्र पर पिछले वर्ष आया था। मुझे प्रसन्नता है कि आप लोगों ने मेरी बतलाई हुई, ग्राम-सुधार की चौदह कलमों को अच्छी तरह समझा और ग्रहण किया, और इस वर्ष उसके अनुसार कार्य करने का प्रयत्न किया। मैं चाहता हूँ कि आप इसी तरह दिनों-दिन अपनी दिलचस्पी अपने ग्रामों के सुधार की तरफ बढ़ावें और इस तरह चलते हुए, मेरा विश्वास है कि ईश्वर आपका कल्याण करेगा और आपकी दरिद्रता अवश्य मिटेगी, इसलिये कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का बनाने वाला कहा गया है।

---

*देवरी-ग्राम-सुधार-केन्द्र, पोहरी, ग्वालियर के तृतीय वार्षिकोत्सव पर २५ जून १९३९ ई० को दिया गया भाषण।

पिछले कार्य पर एक दृष्टि

अभी आपके केन्द्र की जो वार्षिक रिपोर्ट पढ़ी गई, उसको मैंने ध्यान से सुना, व आज प्रातःकाल इस केन्द्र के सातों ग्रामों के लिये जो आपने अपने परिश्रम से छः मील की सड़क इस वर्ष बनाई, उसको मैंने मोटर से घूम कर देखा। सड़कों पर आपने घूम और रपट आदि दिखलाने के लिये जो चिन्ह लगाये हैं वे इस बातको दिखलाते हैं कि आप उन सब अच्छी बातों को अपनाना चाहते हैं, जो बड़े नमूने के तौर पर आपको देखने को मिलती हैं। बरखेड़ा ग्राम में मैंने कई ग्राम्य-उद्योगों को चलते देखा और मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि आपके केन्द्र की ग्राम-पंचायत फिरसे इन ग्रामोद्योगों को पुनरुज्जीवित करने के लिए प्रयत्नशील है। खुद अपनी बहनों और बच्चों की शिक्षा में भी आपने दिलचस्पी लेना आरंभ किया है, और पिछले सालों में, अपनी माली हालत को भी सुधारने का लगातार प्रयत्न किया है। इस वर्ष अपने इलाके में वर्षा कम होने के कारण फसल अच्छी नहीं हुई और आपकी आर्थिक दशा अच्छी होने में एक दैवी अड़चन आगई। पर आप इन कमी-कभी आने वाली बाधाओं से निरुत्साहित न हों, और अपनी उन्नति के कार्य में निरन्तर लगे रहें। उत्तम प्रयत्न कभी व्यर्थ नहीं जाता।

मुझे इस बात से बहुत प्रसन्नता है कि ग्राम-सुधार की कठिन समस्या को हल करने में मेरी जागीर की प्रजा, आदर्श—सेवा—संघ के मार्ग-दर्शन में अच्छा काम करने का प्रयत्न कर रही है। ग्राम-

सुधार की देश-व्यापी प्रगति को बढ़ाने और उसमें योग देने के लिये आदर्श–सेवा–संघ ने 'Rural India' नामक मासिक-पत्र को बम्बई से निकालकर अवश्य एक उपयोगी और साहसपूर्ण कार्य किया है। मुझे आशा है कि उस पत्र को हिन्दी में निकालने का जल्दी प्रयत्न किया जायगा, जिससे आप को उसका प्रत्यक्ष लाभ होगा। मेरी जागीर की जनता व यहाँ की पब्लिक-संस्था द्वारा, जो भिन्न-भिन्न रूप से ग्राम-सुधार की दिशा में आज तक कार्य हुए हैं, उनपर सन्तोष प्रगट करने पर जहाँ मुझे प्रसन्नता होती है वहाँ आज के अवसर पर संघ के कार्यकर्ता तथा जागीर के ग्राम-सुधार-सभाओं के सदस्यों व जन-साधारण को उनके उत्तरदायित्व का ध्यान भी दिलाना चाहता हूँ। इस दिशा में आगे कदम बढ़ाकर आपने अपने सिर पर एक बहुत बड़ी जिम्मेवारी ली है। ग्रामों के सुधार की समस्या इस देश के राष्ट्र निर्माण की एक मुख्य और महान समस्या है और उसका मुख्य आधार हर प्रकार की स्वावलम्बन पद्धति पर है।

कार्य की महत्ता

यह दिनों और सालों का काम नहीं है किन्तु पीढ़ियों का काम है। इसका आधार निःस्वार्थता से ग्रामीणों की भलाई करने की भावना पर है। जब तक कार्यकर्ता सेवा और शुद्ध प्रचार की भावना से लोगों की भलाई करने पर कमर नहीं कस लेंगे, तब तक इस कार्य में यश नहीं मिल सकेगा। ग्रामसेवा एक प्रकार का अज्ञातवास है। इस मार्ग

में जीवन के सारे अभाव और कठिनाइयों का निरन्तर सामना है, इसलिये जो लोग इस कार्य में स्वयं-सेवक बने हैं वह यह अवश्य समझ लें कि ग्राम-सेवा में उन्हें कोई नाम, यश तथा स्वार्थसिद्धि नहीं होने वाली है, किन्तु इस साधना में उनकी देशसेवा और लगन की एक परीक्षा होने वाली है, जिसके लिये तैयार होकर उन्हें इस क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिये। जनता को केवल ऐसे ही "कार्य कर्ताओं" पर विश्वास करना चाहिये जो सचमुच में सेवाव्रती हों और प्रत्यक्ष में लोगों के साथ रहकर काम करें, न कि ऐसे लोगों पर जिन्होंने अपना धंधा चलते-फिरते उपदेश देना बना रखा है।

गये साल मार्च में मैंने ग्राम-पंचायतों के चलाने के लिये आपको चौदह कलमें बतलाई थीं। मुझे प्रसन्नता है कि इस केन्द्र की पंचायत ने उन कलमों के मुताबिक कार्य करने का प्रयत्न किया, जिसकी रिपोर्ट अभी पढ़कर सुनाई गई है। ग्राम-पंचायत का महत्त्व एक ऐसा विषय है जिसका तात्विक विवेचन जरूरी मालूम होता है इसलिये ग्राम-सुधार का होना ग्राम-पंचायतो के अच्छे होने पर ही एक मात्र अवलम्बित है।

सुधार हमेशा भीतर से होता है। यह ऐसी चीज नहीं है जिसे कोई बाहर से लाकर दे दे और लोगों का सुधार हो जाय। ग्राम-सुधार का अर्थ केवल यही है कि ग्राम वाले खुद मिलकर अपना सुधार करें। अभी मैं जो इस ग्राम-सुधार के काम में एक तात्विक कमी देखता हूँ वह यह है कि इस सम्बन्ध में जो लोग

खटपट करते या उद्योगशील मालूम होते हैं वे ग्राम के खुद के लोग न होकर शहर के पढ़े लिखे लोग मालूम होते हैं। उनकी सहानुभूति और सहायता स्तुत्य है। किन्तु इसमें मुझे एक खराबी की आशंका है कि इस क्रम के जारी रहने से ग्रामवालों में खुद अपनी बुद्धि, अपने निर्णय और अपने पर भरोसा पैदा होने में कमी रहेगी और उनमें परावलम्बी होने की और दूसरो का मुँह ताकने की प्रवृत्ति बढ़ेगी। मैं चाहता हूँ कि आरम्भ से ग्राम-सुधार के काम का भार ग्रामवाले खुद अपने सिर पर लें और अपनी बुद्धि से कार्य करें।

ग्राम-पंचायत

उसी तरह पंचायत का सब काम अपने बल भरोसे पर चलावें। पंचों को अपने विचारों में सच्चाई और दृढ़ता रखनी चाहिये। जो भी काम तय करें उसे पूरा करना चाहिये।

इस ग्राम-पंचायत पद्धति के सफल होने के लिये आवश्यक है कि ग्रामों के लोग और खास कर मुखिया लोग सच्चे, ईमानदार और दूसरों का दिल से भला करने वाले व्यक्ति हों। अभी यह देखा जाता है कि ग्रामों में इस बात की बड़ी कमी है। जब तक ऐसा न होगा ग्राम-पंचायतें लोगों का विश्वास सम्पादन नहीं कर सकतीं और विश्वास के अभाव में कोई काम सन्तोषजनक रीति से नहीं चल सकता। मेरे विचार से ग्राम-सुधार के कार्य में ग्राम-पंचायतों ने अभी वह स्थान प्राप्त नहीं किया है कि जो ग्रामों की एक प्रतिनिधि

संस्था का होना चाहिये। संगठन और शासन-व्यवस्था को छोड़कर भी, जो धीरे धीरे बढ़ने वाली चीज है, अभी पंचायतों में ऐसे लोग नहीं देखे जाते जो देश-सेवा और आपसी भलाई के लिये इन संस्थाओं में आवें और लोकहित द्वारा प्रजा के विश्वासपात्र बनें। मैं अपने यहाँ की ग्राम-पंचायतों में इस कमी को नहीं देखना चाहता।

ग्रामोद्योग

ग्राम-सुधार के सम्बन्ध में ग्रामोद्योगों को पुनरुज्जीवित करने की आवश्यकता आप समझ गये हैं, ऐसा आज के देखे हुए बरखेड़े ग्राम के ग्रामोद्योग-प्रदर्शन से मालूम होता है। उदाहरणार्थ कपड़े बनाने का काम करने वाले लोगों की बरखेड़े ग्राम में काफी बस्ती है। सूत कातने और कपड़े बनाने का काम वह लोग अच्छा कर सकते हैं, यह भी देखने से मालूम हुआ है। फिर यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि इन सातों ग्रामों के लोग अपने ही गाँव के अपने लोगों से कपड़ा बनवाकर क्यों नहीं पहिनते? जब कि लोग कपास पैदा करते हैं और कर सकते हैं, फिर यह क्या कारण है कि सब साधनों के होते हुए लोग अपने कपड़े की जरूरत को क्यों पूरा नहीं करते? स्वावलम्बी बनना और सामाजिक कर्त्तव्य पूरा करना और साथ ही आर्थिक हालत ठीक करना, जहाँ यह सब लाभ ग्रामोद्योगों को पुनरुज्जीवित करने में हों, तो उनको क्यों न किया जावे? यदि इसमें आलस्य या आदत छूट जाने की वजह हो, तो उसको दूर करना चाहिये। जो बात हो सकती है और की जा सकती है, उसके

करने ही से तो मनुष्य-समाज का विकास हुआ है और अनेक देशों ने अपना सुधार किया है। ग्राम के सुधार का अर्थ है देश का सुधार। यह समझना कि मैं अथवा अन्य कोई शक्ति तुम्हारा सुधार करेगी और उससे तुम्हारा सुधार होगा इसमें थोड़ी समझ की भूल है। प्रत्येक व्यक्तिमात्र का अपना सुधार उसके कर्त्तव्यकर्म, और अपने में अपनेपन की भावना होने से हो सकता है। इन भावनाओं को कायम रखने में और उनके लिये सहायता देने में मैं हमेशा तत्पर हूँ।

पशुपालन

एक और चीज जिसकी ओर ग्रामों में ध्यान नहीं दिया गया है वह पशुओं की हालत है। प्रत्येक किसान के घर में गाय, भैंस आदि कुछ पशु अवश्य होते हैं, पर उनकी खिलाई और अच्छी तरह पालन की ओर किसान लोग ध्यान नहीं देते। अपने जंगलों में जबकि घास अच्छी तादाद में पैदा होता है, कड़बी भी होती है, फिर पशुओं के खाने का प्रबन्ध क्यों नहीं हो सकता? पशुओं को धन माना गया है ओर उनसे घी, दूध आदि पदार्थ पैदा होते हैं। फिर उनके अच्छी तरह पालन की व्यवस्था न कर सकना, एक मुख्य निर्वाह के साधन को खोना है। बहुत पशुओं को रखना और किसी को भी अच्छा न खिलाना इससे कहीं बढ़ कर यह बात है कि थोड़े पशु रखना और उनको अच्छा रखना जिससे आमदनी हो और अपनी वृद्धि हो। कभी जहाँ दूध घी की नदियाँ बहती थीं वहाँ पशुओं की यह दुर्दशा होना और दूध-घी का नाम न होना यह ऐसी हालत है

जो आप लोगों को मिटाना चाहिये। मवेशियों की नसल को ठीक करना और पशुओं को अच्छा खिलाकर उनसे अपनी आमदनी बढ़ाना इस ओर आप का ग्राम-सुधार के कार्यक्रम में पूरा ध्यान होना चाहिये।

अन्तिम शब्द

ग्राम-सुधार एक अत्यन्त विस्तृत विषय है। मैं समझता हूँ कि आदर्श-सेवा-संघ और उसके कार्यकर्ता लोग उसको अच्छी तरह चलाने में प्रयत्नशील हैं। दूसरे विषयों की ओर कार्यकर्ता लोग आपका ध्यान दिलाते रहेंगे और मुझे विश्वास है कि जब आपने अपना कदम इस सुधार की ओर बढ़ाया है, तो आप उसको पूरा करेंगे ही। मैं आपके काम की जाँच केवल एक बात से करने में खुश होऊँगा और वह यह कि उस ग्राम-सुधार कार्य द्वारा मनुष्य-स्वभाव का कितना सुधार हुआ, ग्रामीण लोगों का आचरण कितना उच्च बना, वे कितने सच्चे, नेक-तबियत और अपने भाइयों का भला करने वाले बने। इन ग्राम-पचायतों में ऐसे भले लोग पंच हों कि वे ईर्षा, द्वेष और पक्षपात से रहित होकर सबका भला करने वाले हों, जिन पर सबकी श्रद्धा हो, जो अपनी बात के धनी हों और जिनके किसी कामको कोई आदमी सन्देह की दृष्टि से न देख सके। मै समझता हूँ कि यह ग्रामसुधार की जड़ है और यह बात सुधर गई तो ग्राम-सुधार के काम में उन्नति हुए बिना न रहेगी। ग्राम-सुधार के कार्यकर्त्ता, लोगों का आचरण-निर्माण करने को अपने कार्यक्रम में मुख्य स्थान देंगे, ऐसी मुझे आशा है।

ग्रामोन्नति और ग्राम-गुरु

यह बात सभी मानते हैं कि पाश्चात्य राष्ट्रों के सम्पर्क में आने के बहुत पहले ही भारतवर्ष में ग्राम्य शासन-पद्धति उच्चतम पूर्णता को प्राप्त होगई थी। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस विषय में संस्कृत साहित्य में खोज करने से बहुमूल्य सहायता प्राप्त होगी। यही उपयुक्त समय है जब कि अन्वेषकों को कार्य की किसी ऐसी विशेष प्रणाली की खोज करना चाहिए, जिसके द्वारा ग्राम-क्षेत्रों को न केवल आर्थिक दृष्टि से, वरन् शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सुधारा जा सके। मैं विशेषतः मनोवैज्ञानिक सुधार की ओर संकेत कर रहा हूँ; क्योंकि यह विकास के सभी अंगों में एक मुख्य स्थान रखता है।

ग्रामीण जनता की भलाई के लिए इस समय विभिन्न ढंग और साधन बताये जा रहे हैं। उनमें से कुछ एक ये हैं:—बाल-शिक्षा,

वयस्क (बालिग)-शिक्षा, शारीरिक—व्यायाम, आर्थिक-सुधार, चिकित्सा-सम्बन्धी सहायता, स्वच्छता, चारित्रिक एवं सामाजिक उन्नति, इत्यादि इत्यादि। मेरी सम्मति में इन सभी बातों को एक के बाद एक लेना चाहिए, क्योंकि इन रचनात्मक उपायों का एक ही अन्तिम लक्ष्य है, और वह है ग्राम-वासियों के मस्तिष्क में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन लाना और उनमें स्वावलम्बन, सहयोग तथा आत्म-सम्मान की भावना उत्पन्न करना। जब कि यह बात पूर्ण हो जायगी तो और दूसरे सुधार स्वतः इसके पश्चात् होने लगेंगे। शासन के आर्थिक साधनों तथा मानवीशक्ति के परिमित होने के कारण व्यवहारतः प्रत्येक समस्या को समान शक्ति और जोर के साथ हल कर सकना एकदम असम्भव है। किन्तु इसका मतलब यह कदापि नहीं है कि सुधार के केवल एक ही अंग पर अधिक ध्यान देने के कारण जीवन के अन्य अनेक अंगों की पूर्णतः उपेक्षा की जाय। इसका तो इतना ही अर्थ है कि सुधार के अधिक आवश्यक तथा कम आवश्यक अंगों में अन्तर रखा जाय, जिसके कारण एक के बाद दूसरी बातों पर विचार करते समय पूर्व अंगों को पश्चात् अंगों से अधिक आवश्यक समझा जाय।

विचारों के शीघ्रातिशीघ्र विकास के इस काल में नये नये सिद्धान्त तथा मत प्रायः निकलते जाते हैं और परीक्षण तथा अनुभव के लिए नये नये उपायों का भी सहारा लिया जाता है; किन्तु यह नहीं सोचा जाता कि इसका प्रभाव क्या पड़ेगा? ये सभी विभिन्न विचार

और सिद्धान्त लोगों के मस्तिष्क में गड़बड़ी उत्पन्न करते हैं विशेषकर उन भोले-भाले किसानों के विषय में जो अब भी आजकल के तथाकथित प्रगतिशील लोगों के द्वारा हटाकर बाहर किए गए भारत के प्राचीन सिद्धान्तों की सत्यता पर पूर्ण आस्था रखते हैं। उन्हें कुछ सूझसमझ नहीं पड़ता कि वे क्या करें, क्या न करें ? क्योंकि प्रत्येक नया शुभचिन्तक जो उनके पास आता है अपने ही नये सुझावों और नये सिद्धान्तों को स्वीकार करने का राग अलापता है। परिणाम यह होता है कि वे अपने ही पुराने ढर्रे पर जमे रहते हैं और इन सामाजिक स्वतंत्रतावादियों का अनुकरण नहीं कर पाते। किसी नये सुधार के लिए गाँव के लोगों को सुधार की ओर आकर्षित करने का सर्वोत्तम ढंग यही है कि कार्यक्रम सीधा और सरल होना चाहिए तथा इसका प्रचार भी इस ढंग से हो कि लोग उसे बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार करलें।

मुख्य विषय पर आकर, अब मैं बिना विस्तार में गये हुए ग्राम-सुधार का कार्यक्रम कैसा होना चाहिए और किस प्रकार रुपये पैसे के तथा अन्य प्रकार के प्रबंध करने चाहिएँ, एक निश्चित स्वरूप में सारी बातें रखना चाहता हूँ। जैसा कि मैं अन्यत्र लिख चुका हूँ जब तक कि शरीर दृढ़ व बलवान न होगा, तब तक मस्तिष्क स्वच्छ एवं प्रतिभा-संपन्न नहीं हो सकेगा और जब तक कि मस्तिष्क निर्मल नहीं है, तब तक विचार भी निश्चित एवं प्रभावशाली नहीं हो सकते। परिणामतः हमारी कार्य-शैली भी पूर्ण एवं संतुलित नहीं होगी। अतः ग्रामीण जनता का शारीरिक विकास ही सबसे

अधिक महत्व का है—और इसके साथ ही कृषि व गृह-उद्योगों का भी—जिससे उनकी आर्थिक दशा में सुधार होगा। मनोवैज्ञानिक सुधार के विषय में एक बात और कहनी है और वह है आत्म-सम्मान तथा आत्म-निर्भरता की भावना का उत्पन्न करना, जिससे वे दृढ़ता के साथ अपनी वर्तमान निराशापूर्ण परिस्थितियों का सामना कर सकें और सारी शक्तियों को उन्हें सुधारने में लगा सकें।

इस सुधार को लाने के लिए हमें ग्रामीण बच्चों को उनके जीवन के प्रारंभिक वर्षों से ही शारीरिक एवं चारित्रिक शिक्षा देनी होगी। उन्हें धार्मिक शिक्षा देनी चाहिए और उन्हें इस प्रकार शिक्षित बनाना चाहिए कि उनमें कार्य व सामूहिक सुधार के लिए प्रेम की भावना तथा बेकार जीवन के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाय। उन्हें व्यावहारिक एवं उपयोगी शिक्षा देनी चाहिए जिससे न केवल उनकी आर्थिक और सामाजिक दशा में अलग अलग सुधार हों, वरन् सारे गाँव में एक ही इकाई के रूप में सामूहिक ढंग से भी सुधार हो। इस समय जैसा कि लोगों में प्रचलित है गाँव वालों के मुख्य रुचिकर विषय हैं आपस में झगड़े मोल लेना, एक दूसरे के विरुद्ध झूठी शिकायतें करना, बेकार बातों में अपना समय नष्ट करना तथा आत्म-सुधार के विचार को छोड़कर दूसरों की चापलूसी करना।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन बुराइयों के सुधारने का काय किन पर डाला जाय। उस उम्मीदवार के लिए जो अपने को इस कार्य के लिए प्रस्तुत करता है, सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ कसौटी यह है कि उसके इस काम पर आने का उद्देश्य आर्थिक लाभ या

नामवरी है, अथवा ग्रामों की निःस्वार्थ सेवा की भावना। यही कसौटी किसी संस्था अथवा संघ के विषय में भी लागू होगी। परिस्थितियों में तभी सुधार हो सकेगा जब कि ग्राम-सेवा के लिए निःस्वार्थ भावना-वाले कार्यकर्ता मिलेंगे क्योंकि जिस व्यक्ति में निःस्वार्थ भावना है वही गुरु कहे जाने योग्य है, और गुरु ही जनता में वे चरित्र सम्बन्धी गुण उत्पन्न कर सकता है जिनके बिना कोई सच्ची उन्नति नहीं हो सकती।

हमारे प्राचीन साहित्य में इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। गुरु का समाज के चरित्र-निर्माण एवं चारित्रिक उत्थान में बड़ा हाथ रहा है। जनता के सच्चे हितू पर जनता की हार्दिक आस्था थी। वे लोग केवल उपदेशों की झड़ी लगाने में ही व्यस्त नहीं रहते थे, वरन् जनता की दशा सुधारने में वे अपनी सारी विचार-धाराओं व शक्तियों को लगा देते थे। ग्राम-सुधार की कुंजी तो गाँव के इन गुरुओं के पास है और इसीलिए इस प्रकार के कार्यकर्ताओं को सुशिक्षित बनाना ही ग्राम-सुधार-विभाग का प्रमुख कार्य हाना चाहिए।

ये दो सुधार, जिनमें एक व्यावहारिक है और दूसरा विचारात्मक, अपने शिष्यों को किसी विषय के सब पक्षों को स्पष्ट करते हुए गुरु के द्वारा दिए गए संभाषण के द्वारा कार्यान्वित किए जा सकते हैं। भिन्न भिन्न समयों पर दिये गए ये उपदेश उनमें सुंदर रुचि उत्पन्न करेंगे और उनकी सर्वांगीण उन्नति में सहायक होंगे। केवल पहली, दूसरी या तीसरी पोथियों की शिक्षा ही पर्याप्त नहीं होगी; उसे गाँववाले शीघ्र ही भूल जायँगे, क्योंकि उन्हें अपना अधिकांश समय अपनी जीविकोपार्जन के कठिन परिश्रम में व्यतीत करना पड़ता

है और वे साहित्यिक वातावरण से दूर रहते हैं। अतः ऐसी शिक्षा से उनकी दशा के सुधारने में कुछ भी सहायता नहीं मिल सकती।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि शासन जनता की शिक्षा में बहुतसा पैसा व्यय कर रहा है और उसे औषधियों की व अन्य प्रकार की सहायता भी प्रदान कर रहा है। उनकी आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति के लिए वह अब और क्या कर सकता है—यही एक समस्या है जिसका नाम है—ग्राम-सुधार-समस्या। इसमें कोई संदेह नहीं हैं कि ये सहायतायें भी शासन द्वारा प्रदान की जा रहीं हैं। किन्तु प्रश्न तो यही है कि शासन-द्वारा दीगई ये सहायतायें क्या सचमुच ग्राम-सुधार के काम व देहाती जनता की चारित्रिक, एवं आर्थिक उन्नति में सहायक हो रहीं हैं? मेरी विनम्र सम्मति में यदि शासन कृषि, जंगलों एवं खदानों से प्राप्त आय के षोडशांष को भी ग्राम-क्षेत्रों को उनके हितों तथा आवश्यकताओं की रक्षा व पूर्ति में व्यय करने के लिए दे देता तो इससे कहीं अधिक सुंदर फल निकाले जा सकते। इस बात की कोई आवश्यकता नहीं है कि हर एक क्षेत्र में वही सुधार होने चाहिए जो दूसरे में। आवश्यकतायें भी बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार भिन्न होंगी। कार्य भी भिन्न-भिन्न होंगे। अतः व्यय का ढंग भी इस प्रकार का होना चाहिए कि जिससे प्रत्येक स्थल की विशेष आवश्यकताओं के अनुसार उसका उपयोग किया जा सके। सच बात तो यह है कि जनता ही अपनी आवश्यकताओं को भली-भाँति जान सकती है। शासन का तो बस इतना ही काम है कि वह उन्हें ग्राम-गुरुओं के रूप में श्रेष्ठ कार्यकर्ता प्रदान करे।

ग्राम गुरुओं से दो बातें

*आज मुझे ग्राम-सर्वे के शिक्षण के लिये आये हुए अध्यापकों से कुछ कहना पड़ेगा, इसका विचार न था। फिर भी पंडित गोपालकृष्णजी के आग्रह से मैं आपसे दो बातें कहूँगा।

इस ग्राम-सर्वे के काम को संभव है कि कोई महा कठिन या नया काम समझें, लेकिन ऐसी बात नहीं है। अभी तो केवल इस कार्य से सम्बन्धित जितने प्रश्न हैं और जितनी जानकारी चाही गई है, उन सबसे आपको पूर्ण रीति से परिचित कराना है। आपको उनके उत्तर एकत्रित करना है, और आज जो कमियाँ हमारे ग्राम-समाज में हैं, उन्हें दूर करने का सुलभ मार्ग निकालना है।

यह काम आप लोगों से अच्छी प्रकार हो सकेगा। सच तो यह है कि इस काम की बुनियाद आप जितनी अच्छी तरह डाल

* ग्राम-शिक्षा वर्ग पोहरी जागीर के उद्घाटन के समय दिनांक ३ नवम्बर सन् १९४० ई० को दिया गया भाषण।

सकेंगे वैसी कोई दूसरा कार्यकर्ता नहीं डाल सकता है; और यही कारण था कि मैंने आप लोगों को इस कार्य के लिए नियुक्त किया है। इस कार्य की रूपरेखा अच्छी तैयार हो या बुरी, यह आपकी वृत्ति, नीति और सहयोग करने की प्रवृत्ति पर अवलंबित है।

यह सर्वे (Survey) का कार्य आपको इसलिए दिया गया है कि आप किसानों, उनके परिवार और स्त्री-बच्चों के निकट रहते हैं। आपके द्वारा हमें उनकी असली स्थिति मालूम हो जायगी, और उस जानकारी की सहायता से उचित उपाय सोच कर हम उनका सुधार कर सकेंगे। यह प्रकट ही है कि हमारे ग्रामों की आर्थिक स्थिति बिगड़ी हुई है। यह आर्थिक स्थिति तभी सँभल सकेगी, जब अन्य उपायों के साथ हमारी वृत्तियाँ सुधरेंगी। लेकिन जब हमारे अध्यापकों की ही वृत्तियाँ ठीक न होंगी, तो वह दूसरों की वृत्तियाँ क्या ठीक करेंगे? वे समझते हैं कि कोई उनको देखनेवाला नहीं है। वे नशा आदि दुर्गुणों में प्रवृत्त रहते हैं। परंतु स्मरण रखिये कि एक ऐसी शक्ति भी है जो आपको सदा देखती रहती है। परमात्मा हर जगह व्याप्त है। कई लोगों की ऐसी समझ होती है कि सत्ताधारी के आँखें नहीं होती हैं। कुछ अंश तक तो यह ठीक है। परंतु जब सत्ताधारी में अपने कर्तव्यकर्म की और सेवा की भावना तीव्र होती है तो उसकी आत्मिक-देह, उसकी स्थूल-देह कहीं भी हो, आपके निकट चारों ओर रहे बगैर नहीं रह सकती। और उसकी आत्मिक-देह को निकट समझने की अनुभूति आप लोगों को कई

आसुरी कर्मों से बचा सकती है। आप यह न समझें कि अधिकारी आपको देखते नहीं हैं, और आपको आपके किये का फल न मिलेगा। पाप की हंडी फूटे बगैर नहीं रह सकती।

प्रत्येक शिक्षक को यह प्रण करना चाहिये कि जब तक वह इस महान्वृत्ति में है, तब तक वह वास्तव में सच्चे गुरु के समान रहेगा, लोगों को सन्मार्ग पर लावेगा, उनमें प्रेम-भाव उत्पन्न करेगा। इसके लिए आप गीता का मनन करें, विशेपतः गीताजी के १२ वें अध्याय में भगवान् ने बतलाया है कि मनुष्य को किस प्रकार रहना चाहिये। वह जीवन अध्यापकों के लिये आदर्श है।

केवल आपही नहीं किन्तु आप अपने छात्रगणों की भी, जिसमें म ग्रामवासियों को भी समाविष्ट करता हूँ, उसका और अन्य धर्मग्रंथों का मनन करावें, क्योंकि गीता के अध्याय १२ श्लोक १२ में यह स्पष्ट किया गया है कि:—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छांतिरनंतरम् ॥

"श्रवण, मनन, अभ्यास से आत्मा का परोक्ष ज्ञान श्रेष्ठ है, परोक्ष ज्ञान से निदिध्यासन रूप-ध्यान श्रेष्ठ है, पर यह अज्ञानियों को गम्य नहीं है इससे उनको ध्यान करने से कर्मों में फल का त्याग श्रेष्ठ है। इस त्याग से शीघ्र शांति होती है। कारण कि कर्मफल के त्याग से साधक के हृदय में रहनेवाली सब कामनाओं का नाश होता है"।

यह सर्वे (Survey) का काम दूसरे तरीकों से भी हो सकता था। परंतु मैं जानता हूँ कि आपका और ग्राम-समाज का

निकट संबंध है। आप वे त्रुटियाँ बहुत अच्छी तरह से बतला सकेंगे जिनको दूर करना आवश्यक है। आपका काम भी लोक-सेवा है।

मौजूदा हालत में आप लोग पहली, दूसरी और तीसरी कक्षा की पढ़ाई पढ़ाकर संतुष्ट हो लेते हैं; परंतु आपका काम केवल इतना ही नहीं है। अक्षरज्ञान पैदा करना ही तो शिक्षण नहीं है। पुराने जमाने में शिक्षण का अर्थ "समझ पैदा करना" था। जब तक किसी बच्चे में—बच्चे से मतलब सीखनेवाले से है चाहे वह बूढ़ा हो—समझने की, गुनने की, शक्ति न आजाय, वह शिक्षित नहीं कहा जा सकता था। कक्षा का ज्ञान कुछ भी नहीं है। हम कथायें सुनते हैं, बड़े बड़े आदर्श सामने रखते हैं, परंतु उनके अनुसार अमल नहीं करते। हमारे अध्यापक झूँठ न बोलने की शिक्षा तो देते हैं परंतु खुद ही झूँठ बोलते हैं। थोड़े से आर्थिक लाभ के लिये न्यायालयों में जाकर झूँठा साक्ष्य देते हैं। ऐसे कर्म करनेवालों को मनुष्य कहा जावे या असुर, यह आपही बताइये। 'असुर' कोई मनुष्य से भिन्न प्रकार का प्राणी नहीं होता है। मनुष्य ही अपने हीन कर्मों से 'असुर' बन जाता है। फिर भी ऐसी वृत्ति के लोग यह नहीं सोचते कि ऐसे मार्ग की कमाई कैसी है और वह किस काम आएगी ?

मुझे इस बात का खेद है कि लोगों में आज कल फूट, अनीति और आसुरी वृत्ति का फैलाव अधिक हो रहा है। इसकी रोक हुए बिना शिक्षा का या उन्नति के किसी कार्य का होना असंभव है। इन अनिष्ट बातों की रोक हो, इसी हेतु से मैंने सारे विद्यालयों में गीतादि

धर्मग्रंथों का अध्ययन कराये जाने की आज्ञा दी है। मुझे आशा है कि इस आज्ञा का पालन आप लोगों द्वारा अच्छी तरह किया जा रहा होगा।

आसुरी वृत्ति क्या है, यह यदि आप पूरी-पूरी तौर पर जानना चाहें तो आपको इसका अच्छा विवरण श्री भगवद्गीता के अध्याय १६, श्लोक ७, १७ व १८ में मिलेगा। इन श्लोकों में जहाँ-जहाँ श्रीकृष्ण भगवान ने भक्त का अपने से कैसा संबंध है, यह बताया है, वहाँ-वहाँ पर अगर आप "जग" श्रीकृष्ण भगवान हैं, और भगवान ही "जगस्वरूप" हैं, यह भावना मन में ठान लें तो इन श्लोकों का सच्चा आशय या हेतु आपके ध्यान में आ जाएगा।

सारांश, अध्यापकों की वृत्ति आसुरी नहीं होनी चाहिये, किन्तु वह दैवी होनी चाहिये। उन्हें प्रजा को ज्ञान का दान देना चाहिये। उनको मेल और प्रेम का पाठ पढ़ाना चाहिये, जैसा कि भगवान ने भगवद्गीता के अध्याय १२ के श्लोक १३, १७ व १८ में दैवी वृत्ति के लक्षण बताये हैं। परंतु इसके विपरीत मैं देखता हूँ कि अधिकांश अध्यापक लोग ग्राम-समाज में फूट पैदा करते हैं, और शिकायती दरख्वास्तें दिलवाते हैं। परंतु यह अध्यापकों का धर्म नहीं है। उनका धर्म सन्मार्ग पर लाना है, प्रकाश देना है, दूसरों की आसुरी वृत्ति को दैवी बनाना है और उनकी सब प्रकार से हीन दशा को सँभालना है।

आपके और हमारे सामने ही अपने भटनावर में कुछ बड़े-बड़े लखपती थे, और आज उनकी क्या दशा है, यह आप जानते ही हैं। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों होता है? और वह लखपती आज

भिक्षुक क्यों हो गये हैं ? गीता के अनुसार यह उनके आचार, विचार और वृत्ति का फल है, उनकी आसुरी वृत्ति का फल है। यदि उनमें से कोई यहाँ हों तो मुझे क्षमा करें। प्रसंगवश यहाँ उल्लेख करना पड़ा है। मैं यह जानता हूँ कि दूसरों के दोषों को कहना भी एक पाप-कर्म है। लेकिन जिस आसन पर मैं बैठा हूँ, उस लिहाज से मेरा यह भी कर्तव्य है कि दूसरों को सच्चा रास्ता बतलाऊँ और उसके लिये बगैर उदाहरण बताये कभी-कभी काम नहीं चल सकता। जिस तरीके से सर्वसाधारण लोगों में उन्नति और अवनति उनके कर्मानुसार होती है वही बात अधिकारी वर्ग को भी लागू होती है। मैं यहाँ पर किसी का नाम लेना नहीं चाहता। लेकिन आप स्वयं ही देख लीजिये कि जिन्होंने अच्छा काम किया उनका सुयश आज भी आपके दिलों में कायम है। वैसे ही जिन्होंने नहीं किया उन्होंने सिवाय अपयश के क्या छोड़ा ?

अध्यापक का कर्तव्य है कि वह ऐसे कार्य करे जिनसे लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़े। अध्यापकों में समाज से लेने की भावना नहीं होना चाहिये, बल्कि देने की होना चाहिये। त्याग की भावना से प्राप्ति तो अपने आप होती है। इस प्रकार शुद्ध कर्म करने पर जो धन प्राप्त होगा वह कल्याणकारी होगा। उससे आप सच्चे साहूकार बनेंगे। जो सच्चा होगा वह अवश्य बढ़ेगा, और झूँठा होगा उसका नाश होगा।

मुझे उस समय बहुत आश्चर्य होता है जब अध्यापक लोग विद्यार्थी न आने की शिकायत करते हैं। प्रत्येक माता-पिता

का विचार अपने बालकों को अच्छा बनाने का होता है। जब वे देखते हैं कि अध्यापकों का आचरण और शिक्षा की पद्धति अच्छी नहीं है तो वे अपने बालकों को भेजने में उत्साहित नही होते। आपकी शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे पालकों में उत्साह बढ़े और लड़कों में मनोबल और चरित्रबल उत्पन्न हो, उनकी संस्कृति वैसी ही कायम रहे, अपने पाँव पर जग में खड़े होने की शक्ति बढ़े, अपने धंधे की ओर प्रवृत्ति बढ़े और अपनों में अपनापन पैदा हो, अपनी वस्तु का आदर व प्रेम हो न कि खाली नौकरी की गरज से सीखें और आगे उसकी तलाश में निकलें।

आप जानते ही हैं कि अपने ग्रामों की दशा अच्छी नहीं है। उनकी आर्थिक स्थिति भी बहुत खराब है। हमें उनकी आर्थिक स्थिति को अच्छा करना है। परंतु यह ध्यान अवश्य रखना है कि आर्थिक स्थिति का सुधार आसुरी वृत्ति द्वारा न हो। इसके लिये आवश्यक यह है कि हमको अपने ग्रामों की सेवा में अपने आपको त्याग और तपस्या की भावना के साथ मिटा देना होगा। यह काम सहज नहीं है। इस कार्य में सस्ता यश नहीं मिल सकता है और न किसी निजी लाभ की संभावना है। परंतु लोक-सेवा में जीवन अर्पण कर देना स्वयं एक बहुत बड़ा लाभ है। आप जो सर्वे करने जा रहे हैं वह एक बहुत बड़े कार्य का आरंभ मात्र है। मुझे आशा है कि आप उसे पूरी चतुराई और उत्साह के साथ करेंगे, जिससे कि आज नहीं तो कल, आपकी उन्नति अवश्य होगी।

शिक्षा में धर्म की महत्ता

यह बात व्यापक रूप से स्वीकार करली गई है कि भारतवर्ष में शिक्षा-प्रणाली बहुत ही दोषपूर्ण है क्योंकि इससे उस आशय की पूर्ति नहीं होती जिसके पूरा करने का अभिप्राय है। इस बात को सिद्ध करने के लिए बेकारी की वर्त्तमान कठिन समस्या ही पर्याप्त साक्ष्य है। इस देश के बहुत से शिक्षा-विशारदों और सार्वजनिक वक्ताओं ने अपने लेखों और भाषणों द्वारा भारतवर्ष में अपनाई गई शिक्षा-प्रणाली की बहुत आलोचना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके मत में भारतवर्ष यूरोप के अन्य देशों से इस विषय में अत्यधिक पिछड़ा हुआ है। यह बात कि पश्चिमी देशों के साथ इतने समय से सम्पर्क रहते हुए भी भारतवर्ष के भीतर आज भी दोषपूर्ण शिक्षा-प्रणाली

रहे, उनके मत में, एक दुःखपूर्ण विषय है और उसके लिए गंभीर विचार की आवश्यकता है।

अतः इस दिशा में सुधार करने के प्रयत्न भी किये गये हैं। हाल ही में ऐसी प्रयत्नों में से एक प्रयत्न यह है कि विद्या-मंदिर नाम से प्रसिद्ध एक शिक्षा की नई योजना परीक्षण तथा प्रयोग के रूप में अपनाई गई है जिससे वांछित सुधार किये जा सकें। इस नई योजना के अनुसार शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों के मस्तिष्क पर इसका जो प्रभाव पड़ेगा उससे इसके गुण-दोषों का अनुमान किया जा सकेगा।

शिक्षा, यदि वास्तव में वह शिक्षा है, तो विद्यार्थी को अपने मस्तिष्क की संकीर्णता दूर करने में और नम्र तथा उदार भावों को धारण करने में समर्थ करेगी, साथ ही उसके हृदय में आत्म-निर्भरता और स्वाभिमान की भावना भी जागृत करेगी। ऐसी शिक्षा-प्रणाली जिससे आत्म-गौरव की भावना नष्ट हो जाय, कभी भी शिक्षा का नाम ग्रहण करने योग्य नहीं। वास्तविक शिक्षा वह है जो मस्तिष्क में कर्त्तव्य-प्रेम को भर देती है, विद्यार्थी को, धन-लिप्सा से तनिक भी प्रभावित और आकर्षित किये बिना, अपने समस्त कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए अपनी शक्ति लगाने को प्रेरित करती है। सच्चा विद्यार्थी कभी भी धनकुबेर का पूजक नहीं होता और स्वर्ण-राशि की लालसा उसके कार्यों को प्रभावित करने वाली बातों में सबसे अन्तिम है।

वे व्यक्ति जिनका कर्त्तव्य शिक्षा प्रदान करना है, अल्पज्ञ और साधारण विद्यार्थियों की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी हैं। उनकी शिक्षा की त्रुटिपूर्ण पद्धति विशिष्ट चरित्र वाले विद्वान पैदा करने में असफल रहती है और यदि उत्तम योग्यता के कुछ उदाहरण मिलें तो इसका श्रेय उनको या उनकी शिक्षण-पद्धति को नहीं, परन्तु विद्यार्थी की अनोखी बुद्धि और उसके परिवार के विशिष्ट वातावरण का है।

शिक्षा के स्थान और उस संस्था का प्रकार भी, जो शिक्षा प्रदान करती है, विद्यार्थी के विचार और चरित्र-गठन करने में कम महत्व नहीं रखते, और उनकी ओर हमारा विशेष ध्यान होना चाहिए। विद्यालय के प्रकार और वातावरण के अनुसार विद्यार्थियों के विचार होते हैं। किसी औद्योगिक विद्यालय, निवास-स्थान सहित (बोर्डिंग स्कूल) विद्यालय और निवास-स्थान रहित विद्यालय के विद्यार्थी अपने-अपने वातावरणों द्वारा विभिन्न रूप से प्रभावित होंगे और एक दूसरे से भिन्नभाव धारण करेंगे। ऐसी दशा में हमको उस समय विद्यालय या शिक्षण-संस्था के प्रकार पर अवश्य विचार करना चाहिये जबकि हम शिक्षा की कठिन समस्या पर विचार कर रहे हों।

परन्तु केवल प्रवीण अध्यापक, शिक्षा का उपयुक्त स्थान और अनुकूल वातावरण ही वे बातें नहीं हैं जिन पर हमें सूक्ष्म विचार करना चाहिये। कोई भी शिक्षा उस समय तक पूर्ण और प्रभावशील नहीं हो सकती जबतक धार्मिक और नैतिक

सिद्धान्तों का शिक्षण भी पाठ्य-क्रम का एक प्रधान अंग न हो। वास्तविक शिक्षा एक ऐसी शक्ति है जिससे विद्यार्थियों के भीतर एकता और सहानुभूति-पूर्ण भावनाओं का उदय होगा और साथ ही उनमें अपने कर्त्तव्य का भान और अपनी मातृ-भूमि के भले के लिए आत्म-त्याग की भावना भी उत्पन्न होगी। समय और परिस्थितियों के परिवर्तित होने के कारण अनिवार्य परिवर्त्तनों के बीच भी शिक्षा से उनको यह प्रेरणा मिलती रहनी चाहिये कि वे अपनी संस्कृति पर दृढ़ रहें। शिक्षा से विद्यार्थियों के मस्तिष्क पर उनकी सभ्यता की महत्ता की छाप बैठ जानी चाहिये और अपने राष्ट्र के लिए दृढ़ प्रेम की भावना उत्पन्न हो जानी चाहिये। हमें अपने नवयुवकों को यह बात अवश्य ही सिखानी चाहिये कि वे समय की क्रान्तिशील प्रवृत्तियों द्वारा अपने को मार्गभ्रष्ट न होने दें, वरन् अपने मार्ग पर दृढ़ रहें। दूसरों के आचार-विचार का अन्धे होकर एवं अविवेकपूर्ण रूप में अनुसरण करना कभी भी श्रेयस्कर नहीं, क्योंकि इससे हम पथ-भ्रष्ट होंगे और हमारा राष्ट्रीय पतन होगा।

शिक्षण-संस्थाओं में हम बहुधा धार्मिक शिक्षा और प्रार्थना के प्रारंभ किये जाने का समर्थन करते हैं, परन्तु इस विचार को व्यवहार में लाने का प्रयत्न नहीं करते। मेरे मत में धार्मिक शिक्षा ही एक ऐसी वस्तु है जो हमारे युवकों के सुप्त हृदयों में राष्ट्रीय-भावना जागृत कर सकती है।

स्कूल एवं कॉलिजों में धार्मिक शिक्षा के अभाव ने ही हमारे विद्यार्थियों को नैतिक कर्त्तव्यों के प्रति उदासीन बना दिया है। उनकी दृष्टि में न तो कोई ईश्वर है जिससे वे डरें, न कोई ऐसे धर्म-बंधन हैं जिनसे उन पर नियंत्रण रहे और न कोई ऐसे कर्त्तव्य हैं जिनका उन्हें पालन करना है; संक्षेप में, उनकी दशा दिन पर दिन बिगड़ती जा रही है। माता-पिता और वृद्धजनों के प्रति आदर-भाव नष्ट हो गया है। सम्पूर्ण सामाजिक और धार्मिक बन्धनों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाने के लिये वे अधीर हो उठे हैं और इस बात की वे पूर्ण स्वतंत्रता चाहते हैं कि वे जैसा चाहें वैसा करें। अपने देश और समाज के लिए अपना बलिदान करने के लिए वे उद्यत नहीं और न उनके भीतर उन लोगों के कार्यों की सराहना करने की भावना ही है जो अपने देश की उन्नति और उसके सांस्कृतिक विकास के क्षेत्र में प्रयत्न कर रहे हैं। हमारे नवयुवकों की दशा, जो कि मातृभूमि की भावी आशा हैं, ऐसी शोचनीय है।

इसलिए धर्म भी शिक्षण-पाठ्यक्रम का एक अभिन्न अंग होना चाहिये और अन्य आवश्यक विषयों के समान इसकी परीक्षा भी अनिवार्य होनी चाहिये। हमारी शिक्षा-प्रणाली में नैतिक नियमों के शिक्षण की महत्ता बहुत अधिक थी जिनसे उनका स्वभाव सहानुभूतिपूर्ण बन जाता था और वे जाति, वर्ण या धर्म का ध्यान न रखते हुये किसी का भी वास्तविक दुःख देखकर विचलित हो उठते थे।

भारतवर्ष के बाहर के देशों में धार्मिक शिक्षा की उपेक्षा नहीं की जाती और यही भारतीय और विदेशी शिक्षाप्रणालियों में मुख्य अंतर है। वह शपथ ही जो प्रत्येक स्काउट को लेनी पड़ती है, कर्त्तव्य धर्म में दृढ़ निष्ठा और दुःखी मानवता के प्रति सहानुभूति की अत्यधिक महत्ता दिखलाने के लिए पर्याप्त है। उसको यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वह राजा, मातृभूमि और अपने साथियों के प्रति भक्त एवं श्रद्धालु रहेगा। संसार में विकासशील उत्थान के यही तीन आवश्यक अंग हैं। इस विषय पर इससे अधिक कहना व्यर्थ है। यह फिर ध्यान में रख लेना पर्याप्त होगा कि प्रत्येक देश का उत्थान और विकास उसके निवासियों के आध्यात्मिक और नैतिक उत्थान पर ही आश्रित है।

उपरोक्त सुझाव को उपस्थित करने में मैं उसके विषय में किसी मौलिकता का दावा नहीं करता। ये ऐसी बातें नहीं हैं जिन्हें हमारे देशवासी न जानते हों अथवा जो उनके लिए नई हों। उन्होंने इस विषय पर अनेक वार विचार किया है, परन्तु धार्मिक शिक्षा के बारे में उपेक्षा और उसका स्कूल के पाठ्य-क्रम में न रहना ये ऐसी बातें हैं जिनके कारण विद्याविशारदों के उस महत्व में सन्देह होने लगता है जिसे वे इस प्रधान विषय को देते हैं। मुझे भय है कि कहीं धर्म उन्हें अभिशाप रूप और भारत के पतन का प्रधान कारण न ज्ञात होता हो। वे इसको बाह्य दृष्टि से ही देखते हों और उसकी उपयोगिता के बारे में अपने निर्णय पर तर्क की भ्रमपूर्ण कसौटी से पहुँचते हों।

धर्म का क्षेत्र संकीर्ण नहीं है जैसा कि लोग प्रायः समझा करते हैं। इसके सिद्धान्त प्रशस्त और उदार हैं और उनमें ऐसी सब बातों का समावेश है जो आचार अथवा नित्यकर्मों के भीतर आती हैं। आचार या कर्म और धर्म के बीच अन्तर निकालना सहज काम नहीं है, और संभवतः यही कठिनाई है जो शिक्षा के पाठ्य-क्रम में इसके एक विषय के रूप में प्रविष्ट किये जाने के मार्ग में आती है। परन्तु यह ऐसी कठिनाई नहीं है जिस पर विजय प्राप्त न की जासके। जो आचार व्यर्थ और अनावश्यक हो, उसे छोड़ दिया जाना चाहिये अथवा बदलती हुई परिस्थितियों का सामना करने के लिए, समयानुसार उसको उनके अनुकूल कर लेना चाहिये।

समय और परिस्थितियों के अनुकूल आचार, कर्म और धर्म का ग्रहण न करने से हमारी वर्तमान प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ है कि अपनी सभ्यता के प्रति हमारा दृष्टिकोण बिलकुल भिन्न होगया है। हम अपनी सभ्यता से बिलकुल पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं और अन्य लोगों के रीतिरिवाजों का अनुसरण करने के इच्छुक हैं। परन्तु, मेरे मत से अन्य लोगों का यह अन्धानुसरण केवल व्यर्थ और अनावश्यक ही नहीं हैं, परन्तु निस्सन्देह हमारी राष्ट्रीय-संस्कृति के लिए हानिकर भी है। कुछ समय के लिए परिस्थितियों के अनुकूल अपने कार्यों को बनालेने का तात्पर्य यह नहीं है कि हम अपनी संस्कृति को छोड़दें। यदि समय को देखते हुये परिवर्तन करना आवश्यक ही हा तो उनको अस्थायी रूप से अपने

आचार में प्रविष्ट किया जा सकता है, परन्तु उनका प्रभाव धर्म के तत्वों पर किसी भी प्रकार नहीं पड़ना चाहिये ।

सम्राट् अकबर ने हिन्दुत्व के प्रति अपना झुकाव दिखलाया था ।उसने अपना विवाह राजपूत महिला से किया और सूर्य की पूजा तक की । इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि उसने अपना धर्म छोड़ दिया हो अथवा अपने पैगम्बर मुहम्मद साहब की शिक्षाओं में सकी श्रद्धा न रही हो । यह उसकी राजनैतिक दूरदर्शिता ही थी के उसने हिन्दुओं को अपने साथ लेना चाहा, अतएव यह स्पष्ट है कि हिन्दुओं के प्रति उसका झुकाव केवल समय से लाभ उठाने का उपाय मात्र था । छत्रपति शिवाजी का व्यवहार भी उसी कहानी की पुनरावृत्ति करता है । कुछ दिनों तक उन्होंने थोड़ी सी दाढ़ी भी रखी और सिर में मुसलमानों जैसी कलंगी भी धारण की, परन्तु इन बातों से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वे हिन्दू नहीं थे। मुसलमानी वेषभूषा का धारण किया जाना केवल उनकी राजनैतिक बुद्धिमत्ता एवं दूरदर्शिता का ही द्योतक है ।

इस विषय पर संक्षेप रूप में मैं फिर यह कहूँगा कि अपने आचार अथवा कार्यों में यदि कोई परिवर्तन समय की परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक हो तो उसे आचार के भीतर भलीभाँति प्रविष्ट किया जा सकता है। परन्तु इससे किसी भी दशा में पवित्र धर्म की शुद्धता, पूर्णतया या अधिकांशतः प्रभावित नहीं होनी चाहिये अथवा हमारे समाज पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये ।

नैतिक कार्यों (कर्म या आचार) के सिद्धान्तों के शिक्षण के आवश्यक तत्व आवश्यकता और उपयोगिता हैं। जब आवश्यकता और उपयोगिता इन दो बातों को ध्यान में रखते हुए नैतिक शिक्षा दी जाती है तो निश्चय ही उसको देशका समर्थन प्राप्त होता है। इन दो आवश्यक माँगों के अभाव के कारण ही वर्तमान शिक्षा-प्रणाली दूषित और प्रभावहीन हो गई है और उससे वांछित फल उत्पन्न नहीं होता।

धर्म—शिक्षा का एक आवश्यक अंग

सत्य की खोज में रचनात्मक आलोचना तथा विचारशील जाँच-पड़ताल से सदैव सहायता मिलती है और मैं इसी दृष्टिकोण से जनवरी १९४० के 'रूरल इंडिया' में प्रकाशित अपने 'शिक्षा में धर्म की महत्ता' शीर्षक लेख पर श्री० एल. एस. हारूरे के द्वारा की गई आलोचना का स्वागत करता हूँ। आलोचना करते हुए श्री० हारूरे ने उक्त मासिकपत्र के अप्रेल के अंक में कुछ आपत्तियाँ उठाई हैं, जिनका संक्षिप्त स्पष्टीकरण नीचे की पँक्तियों में करके मुझे अत्यंत प्रसन्नता होती है। ऐसा करते हुए मैं श्री० हारूरे को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने मेरे लेख के वर्ण्य-विषय में इतनी अभिरुचि दिखाई। आज के इस असाधारण काल में मेरा विश्वास है कि यह विषय अत्यंत महत्व का है और देश का इस ओर ध्यान आकर्षित होना चाहिए।

धर्म की परिभाषा

धर्म शब्द संस्कृत की 'धृ' धातु से बना है, जिसकी व्याख्या है 'यत्धार्यतेति धर्मः' अर्थात् जो धारण किया जाय—कार्य रूप में परिणत किया जाय, न कि केवल स्वीकार किया जाय। पूजा व भोजन करने या वस्त्र पहनने के किसी विशेष ढंग को धर्म नहीं कहते; यद्यपि हो सकता है कि उसमें ये बातें सम्मिलित हों। धर्म का तो अर्थ है अपने देश, माता-पिता, समाज, सम्पूर्ण मानवता और ईश्वर की सारी सृष्टि के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना।

इसका महत्व

नीचे के संस्कृत श्लोक को उद्धृत करने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से धर्म अथवा धार्मिक अध्ययन के महत्व को भली भाति नहीं समझाया जा सकता:—

आहार निद्रा भय मैथुनं च,
सामान्यमेतत् पशुभिः नराणाम्
धर्मोहि तेषामधिको विशेषः,
धर्मेण हीनः पशुभिः समानः।

जिसका अर्थ है कि खाने-पीने, सोने, डरने और काम-वासना की पूर्ति करने में मनुष्य और जानवर समान ही हैं किन्तु एक धर्म ही है जिसके कारण मनुष्य पशु से अधिक उच्च स्थान पर सुशोभित किया जाता है। वास्तव में धर्म-विहीन मनुष्य पशु के समान है।

क्या धर्म मनुष्य को कट्टर साम्प्रदायिक और संकुचित विचार का बना देता है ?

बहुधा यह कहा जाता है कि धर्म मनुष्य को साम्प्रदायिक तथा संकुचित विचार का बना देता है। मुझे संदेह है कि जो व्यक्ति ऐसा शोर मचाते हैं वे धर्म के सच्चे अर्थ को समझते हैं या नहीं? मेरी राय में वह धर्म धर्म ही नहीं है जिससे आप विस्तृत, खुले और उदार विचार के व्यक्ति न बन जायें, उस धर्म को धर्म ही न कहना चाहिए जिससे आप को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् विश्व-बन्धुत्व की शिक्षा न मिले। वह धर्म वास्तव में धर्म नहीं है जिससे आपने 'आत्मवत् सर्व-भूतेषु,' अर्थात् प्राणि-मात्र में परमात्मत्व, अपनत्व के दर्शन करना नहीं सीखा। यदि बाइबिल के अध्ययन से ईसाई कट्टर या संकुचित विचार वाले नहीं बनते तो यह कितने आश्चर्य और खेद की बात है कि भारतवर्ष में, जो कितने ही धार्मिक नेताओं व महर्षियों का पालना रहा है, वही धर्म लोगों को कट्टर तथा संकुचित विचार का बनाये! खेद तो इस बात का है कि हमने अपने धर्म की सच्ची भावना को भुला दिया है अथवा हमें यह मालूम नहीं कि किस प्रकार उचित, वैज्ञानिक तथा सुचारु ढंग से धार्मिक शिक्षा देनी चाहिए।

धर्म के प्रति घृणा क्यों ?

धर्म के समान और कोई अत्यंत प्रभावशाली माध्यम नहीं है जिससे हम अपने बच्चों के अन्दर देश-प्रेम, स्वाभिमान,

आत्मनिर्भरता तथा कर्तव्य-बुद्धि की भावना का संचार कर सकते हों। आजकल के नवयुवक और युवतियाँ धर्म के प्रति एक प्रकार का विरोधी भाव रखते हैं। ऐसा क्यों है? इसका कारण है धार्मिक सिद्धान्तों का हमारा त्रुटिपूर्ण स्पष्टीकरण तथा विवेचन। ठीक जिस प्रकार हम एक सुसज्जित वैज्ञानिक प्रयोगशाला में किसी बच्चे के प्रश्नों को समझाने की चेष्टा करते हैं, उसी प्रकार धर्म के विषय में भी हमें समझाना होगा। आप को किसी कार्य विशेष को एक खास ढंग से ही करने के लिए बच्चे को केवल इसी कारण ही बाध्य नहीं करना चाहिए कि उसके बाप-दादे उसे उसी विशेष प्रकार से करते रहे हैं। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि आपने किसी लड़के से उसके ध्यान को किसी विशेष ढंग से किसी स्थान पर केन्द्रित करने के लिए कहा और वह उसे कुछ समय तक करता रहा। किन्तु कुछ समय के बाद बच्चे को उससे कुछ थकावट मालूम होने लगी और वह अब अनुभव करने लगा कि यदि वह अवस्था या रुचि के अनुसार खेल के मैदान अथवा अध्ययन-कक्ष में समय व्यतीत करता तो अधिक अच्छा होता। वह ऐसे अरुचिकर क्रम को प्रतिदिन क्यों दुहराये? आपको उस बच्चे को ध्यानावस्थित होने के लिए विवश नहीं करना चाहिए; किन्तु यह समझाना चाहिए कि किस प्रकार इससे उस बच्चे को खेल के मैदान, पाठशाला और आगे के जीवन में सहायता मिलेगी। इस प्रकार समझाये जाने पर बालक धर्म की सच्ची महत्ता को समझ जायेगा। इस तरह

आपने उस बच्चे में सांसारिक तथा अन्य सभी प्रकार की उन्नति के लिए एक अत्यंत आवश्यक गुण को विकसित कर दिया, क्योंकि, निस्सन्देह इसी प्रकार प्राचीन ऋषियों ने अद्‌भुत शक्ति प्राप्त की थी ! केवल मन को ध्यानावस्थित करना ही योग का रहस्य है।

आरंभ कैसे किया जाय ?

प्रारंभिक धार्मिक शिक्षा किस प्रकार दी जानी चाहिए ? आज कल बालक की बुद्धि को प्रखर बनाने के विचार से और कम से कम समय में उसके मस्तिष्क पर कम से कम दवाब डाल कर उसे शिक्षित बनाने के लिए किंडरगार्टन तथा मॉण्टेसॉरी एवं अन्य शिक्षा के सीधे तरीके प्रचलित किए जा रहे हैं। किन्तु मेरी राय में धार्मिक शिक्षा देने की सुगम प्रणाली जिससे मस्तिष्क एवं कल्पना-शक्ति के विकास में भी सहायता मिलेगी स्तोत्रादि के पाठ से प्रारंभ करने की है। इसके द्वारा भाषा के सुसंस्कृत होने तथा चरित्र को दृढ बनाने में भी पर्याप्त सहायता मिलेगी। जब हमारा पतन प्रारंभ हुआ था तब हमने धीरे-धीरे गृह्-शिक्षा की इस प्रणाली को तिलांजलि दे दी थी।

कैसी शिक्षा दी जाय ?

हमारा धर्म एक समय ऐसी उच्चता को पहुँच गया था कि किसी धार्मिक सिद्धान्त विशेष के एक ही अंग पर ऋग्वेद के मूलस्रोत से निकली हुई अनेक सुंदर पुस्तकें आपको मिलेंगी। मेरी

सम्मति में साधारण मस्तिष्क के लोगों के लिए ऋग्वेद बहुत कठिन है और इसलिए धर्म पर गीता से अधिक सुंदर कोई और पुस्तक नहीं मिल सकती। गीता में न केवल संपूर्ण हिन्दू दर्शन का सार है जैसा कि विभिन्न ग्रंथों में है अपितु अब तक के अन्य सभी धर्मों एवं दर्शनों का तत्व इसमें निहित है। इस प्रकार गीता वास्तव में किसी जाति या राष्ट्र विशेष का ग्रंथ नहीं है।

गीता के अध्ययन को सुरुचिकर एवं अधिक बुद्धिगम्य बनाने के हेतु उसके अंतर्गत के दर्शन को महाभारत तथा रामायण जैसे महाकाव्यों के उदाहरणों से स्पष्ट करना चाहिए। इसके द्वारा बालक के प्रत्येक अंग को—शारीरिक, मानसिक, धार्मिक, आध्यात्मिक—विकसित किया जा सकेगा तथा इस प्रकार का सर्वांगीण विकास ही हमारी शिक्षा का उद्देश्य है।

धार्मिक शिक्षा कैसे दी जाय इसका सीधा सा उत्तर है, उपदेश से आचरण अधिक अच्छा है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने ठीक ही लिखा है:—

' पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे।

किसी धार्मिक सिद्धान्त पर एक लंबा भाषण देने के बजाय उसका एक जीता जागता चित्र उपस्थित कर देना कहीं अच्छा होता है। विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तों तथा दर्शनों पर अनुकूल एवं जँचते हुए उदाहरण रामायण और महाभारत के अतिरिक्त और कहाँ

मिल सकते हैं ? बालक से "स्वर्ण और शक्ति के लोभ को मारो" कहने के बजाय उसके सामने राम के भाई भरत का पूरा चित्र उपस्थित कर देना चाहिए। बालक को यह समझाते हुए कि कितनी ही दृढ़ पाशविक शक्ति का आश्रय लेने वाला भी एक सच्चे अहिंसक सिपाही के समक्ष आत्म-समर्पण कर देता है, आपको उसके मस्तिष्क के सामने वसिष्ठ और विश्वामित्र की लड़ाई का चित्र खड़ा कर देना चाहिए। विश्वामित्र वसिष्ठ से अधिक शक्तिशाली होने के कारण उसके बच्चों तक को मारने में सफल हुआ; किन्तु अन्त में वह बसिष्ठ से पराजित ही हुआ। पीड़ित की मदद करो, शरणागत की रक्षा करो, चाहे कितना ही मूल्य क्यों न चुकाना पड़े, इस सिद्धान्त की शिक्षा देते हुए भगवान् कृष्ण और अर्जुन के बीच होने वाले द्वन्द्व-युद्ध की याद दिलाओ ? किस प्रकार भगवान् कृष्ण के क्रोध के पात्र चित्ररथ को पाण्डवों ने शरण में रखा और किस प्रकार कृष्णजी का प्राणप्रिय मित्र अर्जुन चित्ररथ के कारण अपने ही मित्र से लड़ने को उद्यत हो गया। ऐसे समय में क्षत्रिय का कर्तव्य, जैसा कि अर्जुन के सामने था, मित्रता व भाईचारे के संबंधों के ऊपर था।

मैं इस बात को दुहरा देना उचित समझता हूँ कि धर्म से मेरा आशय है ग्रंथों की सहायता अथवा बिना ग्रंथों के भी शाश्वत गुणों का निर्माण करना। पाठक रामायण और महाभारत से लिए जाने वाले उदाहरणों के मेरे कथन को कुछ दूसरी प्रकार न

समझलें। मैंने गीता और महाकाव्यों के उदाहरण इसलिए लिए हैं क्योंकि अन्य किसी पुस्तक से ऐसी सुंदर, उचित, नपी-तुली तथा प्रभावशाली धार्मिक शिक्षा नहीं मिल सकती। इसके कारण एक और प्रश्न उठ खड़ा होता है और वह है संस्कृत के अध्ययन के बारे में। संस्कृत में ही इन ग्रंथों के लिखे जाने और उसके अनेक भाषाओं की जननी होने के कारण यह बात पैदा होती है कि इन ग्रंथों की सच्ची आत्मा को समझने एवं हिन्दी या अन्य भाषा की सम्पत्ति को बढ़ाने में इससे कहाँ तक मदद मिलेगी? किन्तु यह विषय बहुत विस्तृत होने के कारण इस अध्याय में वर्णन नहीं किया जा सकता। इतना ही कहना पर्याप्त है कि इन ग्रंथों के सम्यक् अध्ययन के लिए संस्कृत का अध्ययन करना अत्यत आवश्यक है।

ग्राम-रक्षा-दल

पिछले वर्षों में ग्राम-सुधार पर बहुत लिखा जा चुका है, परन्तु बहुत कम लोगों ने ग्राम-रक्षा की समस्या की ओर ध्यान दिया है, यद्यपि यह वह समस्या है जिसकी ओर देश के विचार-शील मस्तिष्कों का ध्यान आकर्षित होना अधिक आवश्यक है। ग्राम-सुधार जिस अर्थ में आजकल समझा जाता है वह देहाती दुनिया की आर्थिक भलाई करना है। किन्तु यह बात आंशिक रूप में ही सत्य है। भारतवर्ष में हम सभी के लिए यह समस्या गाँवों में रहने वाली देश की नब्वे प्रतिशत जन-संख्या से सम्बन्ध रखती है और इसलिए ग्राम-पुनर्निर्माण का तात्पर्य है—राष्ट्र का पुनर्निर्माण। ऐसे विस्तृत विचार में आवश्यकरूप से देश का शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक तथा आर्थिक नवोत्थान सम्मिलित है जिसमें शारीरिक

नवोत्थान सब से अधिक महत्व का है। सभ्य जीवन की सभी आधुनिक सुविधाओं एवं सुअवसरों के होते हुए भी यदि कोई व्यक्ति अपने शरीर एवं सम्पत्ति की रक्षा करने में निरन्तर भय-संकुल रहता है, तो स्वभावतः वह अपनी आर्थिक दशा सुधारने में भी अधिक रुचि नहीं रखेगा। शरीर और सम्पत्ति की रक्षा समाज के क्रमिक एवं नियम-बद्ध विकास के लिए सर्व प्रथम आवश्यकता है। हमारे गाँव जंगलों में, पहाड़ियों के ऊपर नीचे, घाटियों में, मरुस्थलों तथा मैदानों में बिखरे हुए स्थित हैं; अतः किसी भी शासन के लिए यह संभव नहीं कि वह वहाँ की जनता की आन्तरिक रक्षा के हेतु वैतनिक सेवायें प्रदान कर सके और साथ ही स्थानीय रक्षा व अतिरिक्त स्थानीय आवश्यकताओं के लिए विशाल सेनायें भी रख सके।

यह इतिहास प्रसिद्ध बात है कि प्राचीन काल में इस देश में प्रत्येक गाँव अपनी रक्षा के लिए स्वयं उत्तरदायी था। कौटिल्य नीति में हमें मिलता है कि गाँवों के विशेष विशेष स्थानों पर ग्राम-रक्षा के लिए स्वयं-सेवक नियत किए जाते थे। जब कि हम आत्म-सम्पन्न गाँवों की बात करते है, तो इसका यही आशय है कि इसमें गाँव वालों को मनुष्यों अथवा जंगली पशुओं के आकस्मिक आक्रमणों से अपने आप को बचाने के लिए भी आत्मनिर्भर रहना चाहिए। यदि कोई गाँव स्वयं सामग्री व वस्त्रादि अन्य जीवन की आवश्यकताओं के लिए बाह्य सहायताओं पर निर्भर नहीं रहता तो

उसे उसी प्रकार अपनी रक्षादि के लिए भी वाह्य सहायता पर निर्भर न रहना चाहिए। अतएव ग्राम-रक्षा का यह कार्य आवश्यक रूप में ग्राम-पुनर्निर्माण के कार्यक्रम में ग्राम-कार्यकर्ताओं द्वारा सम्मिलित कर लिया जाना चाहिए।

अभी कुछ दिन से सरकार ने भी ग्राम-क्षेत्रों में शारीरिक सुधार की आवश्यकता का अनुभव किया है और कुछ प्रान्तीय सरकारों ने तो अपनी ग्रामोन्नति की योजनाओं में शारीरिक विज्ञान (physical culture) को भी सम्मिलित कर दिया है यद्यपि इन योजनाओं से प्रस्तावित ग्राम-रक्षा-दलों की आवश्यकताओं की आधी भी पूर्ति नहीं होती। गाँव ही राष्ट्रीय रक्षा के लिए सेना को रंगरूट और सैनिक देते हैं। वही नगर की जनता को सहायता देने और उनकी समृद्धि-साधना का प्रयत्न करते हैं। अतएव उनकी शारीरिक उन्नति राष्ट्र के गंभीर चिन्तन का विषय होना चाहिए। मुझे पूर्ण विश्वास है कि ग्राम-रक्षा-दलों के निर्माण से ग्रामीण जनता में एक नवीन स्फूर्ति एवं चेतना जागृत होगी।

इन दलों के निर्माण के लिए बाल-स्वयं-सेवक आन्दोलन (Boy Scouts movement) के आधार पर कोई संगठन होना चाहिए। गाँव के प्रत्येक वयस्क युवक के लिए इसका सदस्य होना अनिवार्य कर देना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि इस दल का कोई विशेष पहनावा (Uniform) हो, किन्तु इतना तो चाहिए ही कि पहनावे का एक कोई निश्चित ढंग या स्वरूप हो जो

देखने में चुस्त, सक्रिय (active), स्वच्छ तथा आकर्षक जान पड़े और वह दैनिक जीवन के उपयोग के काम में भी लाया जा सके। निःसन्देह, इसमें प्रदर्शनात्मक (demonstrative) तथा जनता को इस ग्राम-रक्षा-दल में सम्मिलित होने के लिए आकर्षित करने वाला कोई न कोई गुण होना ही चाहिए।

अब इन दलों की शिक्षा का प्रश्न उठता है। यह ऐसी होनी चाहिए जिससे गाँव के लोग दृढ़ता व तत्परता के साथ आवारा तथा चोर-डाकुओं से अपनी रक्षा कर सकें। बालचरों (Boy Scouts) को दी जाने वाली शिक्षा ग्राम-रक्षा के उत्तर-दायित्व को पूर्ण करने में पर्याप्त न होगी। इन दलों के लिए तो अस्त्र-शस्त्रों को चलाने एवं उन्हें प्रयोग में लाने तथा आक्रमण व रक्षा करने की शिक्षा आवश्यक है। अन्वेषण, मनन, तथा कल्पना करने की शक्ति को भी विकसित करने की आवश्यकता है जिससे लोग तर्क करने एवं बातों को भली-भाँति समझने में समर्थ हो सकें। इस प्रकार की शिक्षा के बिना गाँवों में इतनी अधिक प्रचलित पशुओं की चोरियों तथा बच्चों को चुराने के मामलों को रोकना कदापि संभव नहीं।

इस बात को अभी बहुत दिन नहीं हुए जब कि प्रत्येक क्षत्रिय ही नहीं वरन् प्रत्येक अन्य वर्ण के व्यक्ति भी हमारे देश में व्यक्तिशः एवं सामूहिक दोनों तरह से आक्रमण व रक्षा की शिक्षा पाते थे। परन्तु समय और आर्थिक तथा अन्य प्रकार की

परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण आत्म-रक्षा के व्यक्तिगत सम्बन्ध के विचार को पूर्णतः छोड़ दिया गया है। राष्ट्र-जागृति के कार्यक्रम में शारीरिक उन्नति का कार्यक्रम भी सम्मिलित होना चाहिये और साथ ही अपने घर-बार की रक्षा करने के लिये जनता को साधन-सम्पन्न करने का कार्यक्रम भी। यह कितने खेद की बात है कि आजकल सरकारी पुलिस में भरती होने के लिये शारीरिक व मानसिक शक्ति से युक्त व्यक्तियों को पाना कठिन हो रहा है और इसका परिणाम यह निकल रहा है कि सरकार आन्तरिक रक्षा के लिये विशेषाधिकारों का उपयोग करने को विवश होती है। वास्तव में आन्तरिक शान्ति एवं ग्राम-रक्षा का प्रबन्ध ग्राम-पंचायतों को ग्राम-रक्षा-दलों के द्वारा करना चाहिये।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अस्त्र-निषेध-विधान (Arms Act) और जंगली पशुओं को सुरक्षित रखने के नियम ने एक प्रकार से लाभ पहुँचाया है; किन्तु इसके वास्तविक व्यवहार से यह भीषण दुष्परिणाम हुआ है कि राष्ट्रीय शरीर (National Physique) तथा जनता की लड़ाकू भावना का नाश हो गया, जो राष्ट्र को जीवित रखने के बहुत अधिक आवश्यक हैं। जंगली जीवों की रक्षा का उद्देश्य यह है कि लोग किसी ऋतु-विशेष में जंगली पशुओं व पक्षियों को न मारें जिससे आखेट के पशुओं में कमी न पड़ जाय। यह उद्देश्य पूर्णतः और अच्छी तरह से लोगों को सुशिक्षित करने से, न कि निषेधात्मक विधान से, पूरा किया जा सकता है।

इसी तरह अस्त्र-निषेध-विधान का यही उद्देश्य है कि दुष्ट व्यक्ति उन्हें न रख सकें और उनका दुरुपयोग न कर सकें। परन्तु हमें इसके ठीक विरुद्ध बात दीख पड़ती है। दुष्ट लोग किसी न किसी प्रकार हथियार प्राप्त कर लेते हैं और शान्ति-प्रेमी जनों को तंग करते और सताते हैं। शान्त नागरिक, विशेषकर छोटे छोटे गाँवों में रहनेवाली जनता, डाकुओं तथा गुण्डों के अत्याचारों का शिकार बनती है और उस पर आक्रमण होता है, क्योंकि उसके पास अपने शरीर व सम्पत्ति की रक्षा के लिए कोई हथियार नहीं है। इन्हीं सब बातों के लिए ग्राम-रक्षा-दलों की स्थापना की आवश्यकता प्रतीत होती है जिनकी सहायता को सरकारी प्रोत्साहन और आवश्यकता पड़ने पर शासन की सहायता भी अपेक्षित है। केवल लम्बी लम्बी धुआंधार वक्तृताओं व प्रेस-प्रचार से इस उद्देश्य की पूर्ति में काम न चलेगा; क्योंकि इनकी आवाज उन गाँवों तक नहीं पहुँचती जहाँ ये दल स्थापित होना हैं।

ये ग्राम-रक्षा-दल ग्रामीण क्षेत्रों की उन्नति व समृद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक होने के अतिरिक्त, जनता में दिल और दिमाग के ऐसे गुणों को भी विकसित करेंगे जिनसे किसी दृढ़ राष्ट्र का निर्माण होता है। जैसे ही ग्रामीण जनता ने शान्ति एवं व्यवस्था के शत्रुओं के विरुद्ध आत्मरक्षा करना सीखली वैसे ही उनमें स्वभावतः निडरता, आत्म-विश्वास तथा आत्म-सम्मान के भावों का उदय होगा, क्योंकि अनेक अवसरों पर उन्हें आकस्मिक तथा

तत्क्षण उपस्थित होनेवाली गंभीर परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा। अतः उनमें दृढ़ता, शीघ्र निश्चय और उपयुक्त सम्मति बनाने के गुण भी स्वतः विकसित हो जांयगे।

हो सकता है कि कुछ लोग धोखे से यह भी सोचने लगें कि जो कुछ मैंने इन पँक्तियों में कहा है वह सैनिक शिक्षा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और ग्राम-रक्षा-दल सैनिक संगठन (military corps) का ही दूसरा नाम है। परन्तु उन लोगों को इन दलों और सैनिक संगठन के बीच भेद करना सीखना होगा, क्योंकि सैनिक संगठन की शिक्षा में प्रधानतः रण-नीति तथा परिस्थितियों के अनुकूल काम करना सम्मिलित है जिनकी ग्राम-रक्षा-दलों के लिए अत्यधिक आवश्यकता नहीं है।

नवजागृति के मौलिक तत्व

ग्राम-पुनर्निर्माण के कार्यक्रम में जनता की शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति का निस्संदेह मुख्य स्थान है। मैं पहिले ही से यह स्पष्ट करदेना उचित समझता हूँ कि शिक्षा-सम्बन्धी विषयों में मेरे विचार उन विचारों से सर्वथा भिन्न हैं जो शिक्षा सम्बन्धी अधिवेशनों में तथा शिक्षा पर प्रसिद्ध मान्यव्यक्तियों के द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। शिक्षा के विस्तृत स्वरूप को इस समय छोड़कर मैं प्रस्तुत विवेचन को केवल जन-साक्षरता की संकुचित सीमा तक ही परिमित करता हूँ और और साथ ही यह विचार करना चाहता हूँ कि वह सक्षरता जब एक बार प्राप्त होगई तो उसे सुरक्षित कैसे रखा जाय। देहाती क्षेत्रों में साक्षरता-प्रसार से निकट सम्बन्ध रखने वाली जनता में साक्षरता के भाव को स्थिर रखने की समस्या है जिसे एक

शासन-प्रबन्धक या शिक्षा-विशेषज्ञ भुला नहीं सकता। गाँव में ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनमें पहिली दूसरी तीसरी पोंथियों की पढ़ाई काम नहीं आती और यह आश्चर्य की बात नहीं कि यदि ज्ञान के उपयोग के अभाव में साक्षर जनता फिर से निरक्षरता के अंधकार में पड़जाय। राज्य को शिक्षा पर किए जाने वाले इस प्रकार के व्यर्थ के व्यय से ध्यान हटा नहीं लेना चाहिए और जन-साक्षरता के प्रसार में चिरस्थिरता लाने के साधनों को खोज निकालना चाहिए।

ज्ञान को दुहराकर ही सुरक्षित रखा जा सकता है। मुझे एक प्रथम श्रेणी में अंग्रेजी भाषा में एम. ए. उत्तीर्ण छात्र की याद आती है जो २७ वर्ष के बाद अंगरेजी में एक पत्र लिखते हुए काँप रहा था। इसका कारण यही था कि उसने अपनी योग्यता को दुहराने की परवाह नहीं की थी। गाँववाले तो प्रारंभिक शिक्षा के प्रयोग और उपयोग के थोड़े अवसरों के कारण जो कुछ कुछ वर्षों में सीखते हैं वह सभी साधारणतः भूल जाते हैं; क्योंकि वे अपनीं योग्यता का उपयोग करने के लिए आगे अवसर नहीं पाते। भारतवर्ष में गाँववालों के पास सामयिक साहित्य के सम्पर्क में रहने, प्रतिदिन निकलने वाले पत्रों को पढ़ने के लिए समय तथा साधन नहीं। यह तो हमारी नागरिक जनता का ही एकाधिकार है। प्रत्युत् वातावरण का दबाव प्रत्येक ग्रामवासी के योग्यता प्राप्त कर उसे सुरक्षित करने के उत्साह को ठंडा कर देता है और उसे स्वाभाविक रूप से यही अनुभव होता है कि जो कुछ जीवन के लिए आवश्यक नहीं, वह चिन्ता करने के योग्य भी नहीं हैं।

यदि हम किसी ग्रामीण व्यक्ति, उसकी रुचियों, वृत्तियों, विश्वास, भक्ति, प्रेम, और सांस्कृतिक विकास का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करें तो इस समस्या का हल भी उसी की पृष्ठ-भूमि तथा उस जाति की जिसमें वह पैदा हुआ है, परम्परागत संस्कृति में ही मिल जायगा। भारतवर्ष की सम्पन्न आध्यात्मिक पैतृक सम्पत्ति तथा विशेष प्रकार की संस्कृति हमारी स्त्रियों एवं अशिक्षित ग्रामीणों के द्वारा ही सुरक्षित है और जो कोई जनता की शिक्षा की समस्या को हल करने का प्रयत्न करता है उसे, चाहे वह सरकार हो या जनता का कोई व्यक्ति, उस परंपरा तथा संस्कृति के अधिकार की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए जिसमें गाँववालों के मनोवैज्ञानिक अस्तित्व की नींव है। वह व्यवस्था तथा संस्कृति जो इस समस्या को भली भाँति हल करदेती है फिर से चलाई और प्रोत्साहित की जानी चाहिए।

अत्यंत प्राचीनकाल से इस देश में जन-शिक्षा की जो परंपरा प्रचलित रही है जिसमें मन्दिरों व गाँव की चौपाल पर विद्वान पंडितों द्वारा दिए जाने वाले प्रवचनों (धार्मिक तथा उपदेश सम्बन्धी भाषणों) के दिए जाने की प्रथा थी जिनका मूल आधार रामायण महाभारत अथवा उपनिषद या पुराण की कोई कथा हुआ करती थी। उदाहरणों, घटनाओं के उद्धरणों तथा इन धार्मिक ग्रंथों की सूक्तियों से बुद्धिमान् एवं विद्वान् पंडित जनता को शिक्षित करते थे और उन्हें अपनी

दैनिक जीवन की गंभीर समस्याओं को सुलझाने के लिए नेतृत्व भी प्रदान करते थे। जनता को अपने आप तथा बिना उनके मस्तिष्क पर दबाव डाले इतिहास, भूगोल, नीति-शास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति तथा स्वास्थ्य-विज्ञान के नियमों का ज्ञान मिल जाता था।

इन प्रवचनों में स्त्री-पुरुष दोनों आते थे; अतः वे माता-पिताओं के संस्कारों की एक अच्छी पृष्ठभूमि तैयार कर लेते थे जिससे वे सर्व-श्रेष्ठ विचारों एवं आदर्शों के अनुसार संसार में संतान उत्पन्न करते थे। हमारे दादा-परदादाओं के कानों में ऐसे ज्ञान का भंडार उस समय से भरा जाता था, जब कि वे अपने पालनों पर अपनी विदुषी माताओं के द्वारा झुलाए जाते थे। बालक के जीवन में इतनी अल्पावस्था में ही जो संस्कार के बीज माताओं के द्वारा बो दिये जाते थे में हमारे देश में वीरों की जाति उत्पन्न करते थे।

उपर्युक्त पुस्तकों के विषय में यहाँ केवल हवाला देने के लिए ही कहा गया है; इसलिए नहीं कि वे धार्मिक पुस्तकें हैं, परंतु इस लिए कि उनमें युगों का ज्ञान भरा पड़ा है और उन महान् मस्तिष्कों का अनुभव भी उनमें है जिन्होंने मानव-जीवन के प्रत्येक अंग का गंभीर अध्ययन किया था एवं जीवन की उलझनों के लिए हल भी उपस्थित किये थे। उनमें अपनी मौलिक विशेषतायें थीं; इसीलिए लोग उनपर इतनी श्रद्धा रखते हैं और इसीलिए जनता की प्रतिभा के विकास के लिए वे सबसे अधिक उपयुक्त हैं।

मनुष्य की मानसिक उड़ान में मानव के आधुनिकतम विचारों को भी इन पुस्तकों में पाया जा सकता है और ये पुस्तकें हमें कर्म या संस्कार के उन ' क्यों, कहाँ ' को भी समझाती हैं जिनका पालन प्रत्येक स्वस्थ शरीर वाले विवाहित या अविवाहित, सकुटुम्ब या एकाकी रहने वाले व्यक्ति को करना चाहिये। इससे यह भी पता चलता है कि उन कर्मों के पालन करने से समाज व राष्ट्र का शारीरिक, मानसिक, आर्थिक तथा चारित्रिक विकास किस प्रकार होता है।

शासन के विधान की सहायता के बिना ही इस एक नुस्खे से ही हमारी सामाजिक समस्यायें सुलझ जाती हैं। प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन धर्म-ग्रंथों के अध्ययन करने व दूसरों को पढ़कर सुनाने के लिए बाध्य किया गया हैं—इसके पालन से देश में किसी प्रकार अज्ञान नहीं रह सकता। इसी प्रकार प्रत्येक गृहस्थ पर दीनों और भूखों को, यहाँ तक कि पशुओं को भी खिलाने पिलाने का धार्मिक भार डाला गया है, अतः गरीबखानों अनाथालयों, विधवाश्रमों, पिंजरापोलों इत्यादि के स्थापित करने की समस्यायें अपने आप हल हो जाती हैं। ये बातें मौलिक सिद्धान्तों के रूप में वर्णित की गई हैं और इन्हें समय के परिवर्तन के अनुकूल बनाने तथा इनमें और भी सुधार करने की भी आवश्यकता हो सकती है।

यहाँ पर ' धर्म ' या 'धार्मिक अध्ययन' के शब्दों का प्रयोग अंध विश्वास और लोकाचार के संकुचित अर्थ में नहीं किया गया। इनका कथन केवल इसीलिए किया गया है कि अध्ययन

के महत्व पर अधिक जोर दिया जाय तथा शाश्वत सिद्धान्तों को समझकर उनके अनुसार अपना जीवन व्यतीत किया जाय, क्योंकि ये ही मनुष्य-जाति की वृद्धि एवं समाज के विकास के आधार है।

हिन्दू-धर्म में इन गुणों की बहुतायत है। वह धर्म, जो सहस्रों वर्षों से चला आरहा है अपनी कोई महान् शक्ति अवश्य रखता होगा। जब कोई आवश्यकता हुई महान् नेताओं का आविर्भाव हुआ और उन्होंने समय की माँग को पूरा करने के लिए 'पंथ' नाम से प्रसिद्ध नये नये परिवर्तन किए। १६ वीं व १७ वीं शताब्दियों में अनेक सन्त दृष्टिगोचर हुए; जैसे, कबीरदास, तुलसीदास, सूरदास, रामदास, एकनाथ, माधवदास, दादूदयाल, नानक इत्यादि, जिन्होंने राष्ट्र में नये जीवन का संचार किया। उनकी शिक्षाओं ने समाज की मुरझाई हुई आत्मा को जीवनदान किया और राष्ट्रीय जीवन के स्रोत को प्रबलतर बनाया।

समाज के क्षेत्र में विवाह-सम्बन्ध के अनेक प्रकारों के उदाहरण इन ग्रंथों में मिलते हैं जिनके विषय में रूस एवं अमेरिका में अभी जारी किये जाने की चर्चा सुन रहे हैं। द्रौपदी के साथ उसके पतियों में हर एक के साथ एक समझौते का विवाह था जो वर्ष की किसी विशेष अवधि तक रहता था और जिसकी हम आज के दिनों में भी कल्पना नहीं कर सकते। अन्तर्वर्गीय तथा अन्तर्जातीय विवाह, जिनके विषय में आज कल इतना शोर-गुल मचाया जा रहा है, उस समय प्रचलित था। भीम और अर्जुन ने अपनी देश-निकालेकी

दशा में अन्तर्वर्गीय विवाह किए थे तथा भीष्म पितामह के पिता राजा शान्तनु ने मछुवे की कन्या से विवाह किया था। नियोग नाम की एक और संतानोत्पत्ति की रीति थी। सामाजिक स्वतंत्रता का सीमातीत उदाहरण यह है कि हिन्दू धर्म एक हिन्दू को एक मुसलमान से विवाह करने से नहीं रोकता था।

इससे यह पता चलता है कि किस सीमा तक हिन्दू धर्म में समाज के प्रति कार्य करने में स्वतंत्रता थी। महाभारत के समय में यह सामाजिक स्थिति थी। भारतीय इतिहास का विद्यार्थी यह जानता है कि यह स्वतंत्रता उच्छृंखलता की सीमा तक पहुँच गई थी। समाज में गड़बड़ी फैल गई और सामाजिक चरित्र ढीला पड़ गया, तथा सामाजिक युद्ध आये दिन होने लगे। श्रीकृष्ण का महान् व्यक्तित्व भी इसके सुधार करने में असफल रहा। समाज की व्यवस्था की यह विशृंखलता न रोकी जा सकी और भारत का अधःपतन प्रारंभ होने लगा। आज कल के समाज में जो सामाजिक मामलों में बेरोक स्वतंत्रता के नारे बुलन्द करते हैं, उनको पिछले अनुभवों से पाठ सीखना चाहिए और बेतहाशा दौड़ने से रुकना चाहिए। व्यवस्थित उन्नति के लिये संयम के साथ स्वतंत्रता का मार्ग ही उपयुक्त है। इसके बिना यह उच्छृंखलता ही है, जो हमें समाज की विशृंखलता तथा बरबादी की ओर ले जाती है।

जिसका कि अभी उल्लेख हो चुका है और जो निःसन्देह भारतीय समाज के पतन का समय था, महाभारत के समय के साथ यदि

रामायण-काल की तुलना करें तो यह बड़ा आश्वासन देता है। यह वह काल था जब सामाजिक व्यवस्था अपनी सर्वोच्च सीमा पर थी। उच्च चरित्र के नियमों के अनुरूप ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी थी। मनुष्य के चरित्र में सर्वश्रेष्ठ सद्गुण होते हैं। श्रीरामचंद्रजी स्वयं उन सब के एक ज्वलंत उदाहरण थे। वह एक आदर्श पिता, आदर्श पति तथा एक आदर्श पितृ-भक्त पुत्र थे। इसके साथ ही दूसरी ओर सीताजी एक पवित्र पतिपरायणा स्त्री का पूर्ण आदर्श थीं। लक्ष्मण तथा भरत की भ्रातृ-भक्ति और अयोध्या-वासियों की अपने प्रिय राजा रामचंद्रजी के प्रति राज-भक्ति, ये सब उन शुभ दिनों में जैसा समाज था, उसका जीता जागता चित्र उपस्थित कर रहे हैं। प्राचीन भारत के इतिहास के इन दो कालों के तुलनात्मक अध्ययन से वर्तमान पीढ़ी के लिए यह पाठ मिलता है कि उस जन-समुदाय में समाज का क्रमिक विकाश संभव है जो अपने जीवन को नीति-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार और जाति या समुदाय के सामाजिक नियमों के अनुरूप नियमित करता है।

मेरे मत में जनता या किसी वर्ग की उन्नति के लिए साक्षरता से अधिक उपयोगी लोगों के संस्कारों में सुधार करना है। इसी दिशा में हमारी जाति का सुधार हो सकता है। "आनेवाली संतति में अच्छे संस्कार भरो" यही हमारा प्रमुख नारा होना चाहियें। हमारी सभी समस्याओं का, चाहे वे सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक हों, एकमात्र हल पुरुषों तथा स्त्रियों की एक

ऐसी जाति का उत्पन्न करना है, जिसके संस्कार महान् हों। कुछ और अधिक पाठशालाओं, औद्योगिक संस्थाओं अथवा कारखानों का जारी कर देना केवल आँसू पोंछने के समान है। यह केवल ऊपरी सतह को छूना है। यदि रोग के मुख्य कारण को दूर करना है तो हमें ऐसी संस्थाएँ खोलनी चाहियें जहाँ भावी सन्तान के संस्कार सुधारने पर अधिक ध्यान दिया जा सके। प्रत्येक स्कूल, प्रत्येक कॉलेज और प्रत्येक उद्योग में कम से कम ४५ मिनट संस्कृत के ग्रंथों के अध्ययन के लिये रख देना चाहिये जिससे लोगों के संस्कार सुधरेंगे और मानसिक क्षितिज विस्तृत होगा। यदि आवश्यक हो तो इन पुस्तकों का देश की चालू भाषा में अनुवाद भी होना चाहिये।

यह बिलकुल ठीक है कि प्रारंभ में अनेक कठिनाइयाँ होंगीं। इस कार्य को करने के लिये योग्य अध्यापकों का मिलना कठिन है; किन्तु इस कदम को उठाने में हमें विचलित न होना चाहिये। यदि एक बार दृढ़ता से कदम उठाना निश्चित कर लिया तो ये विषय ऐसे हैं जिन पर पीछे भी सोचा जा सकता है।

साहित्यिक शिक्षा और इसके साथ ही धार्मिक शिक्षा जिसका समर्थन मैंने उपर्युक्त पंक्तियों में किया है, प्रत्येक भारतीय का जन्म-सिद्ध अधिकार होना चाहिये, जिसके लिये राज तथा समाज दोनों उत्तरदायी हैं। इस विषय की उपेक्षा का अर्थ है, असली सार खोकर छाया के पीछे उद्देश्य-विहीन होकर मारे मारे फिरना।

गृहउद्योगों के लिए सुअवसर

गृहउद्योगों की उन्नति की आवश्यकता पर मैं हमेशा जोर देता रहा हूं। ऐसे समय में जब कि यूरोप व एशिया ही क्या सारे भूमण्डल में युद्ध-चक्र बड़ी तेजी से घूम रहा है और सभी वस्तुओं के, विशेषकर जो बाहर से आती हैं, उन वस्तुओ के दाम दिनों-दिन बढ़ रहे हैं और आगे इससे भी अधिक बढ़ने की प्रवृत्ति दिखला रहे हैं, मेरी समझ में यही उपयुक्त अवसर होगा जब हम भारत में परिश्रम पूर्वक गृहउद्योगों को प्रारंभ करदें। पिछले युद्ध के समय विदेशी प्रतियोगिता के अभाव के कारण हमारे कारखाने खूब तेजी से बढ़े। इस समय जब कि देश भर में गाँवों में बनी हुई वस्तुओं के प्रति प्रेम बढ़ रहा है और बाहर की प्रतियोगिता भी कम है तथा देश के भीतर कारखानों में बनी हुई वस्तुओं की भी प्रतियोगिता कम है, गृह-उद्योगों को इससे बढ़कर और कोई सुअवसर नहीं हो सकता।

उद्योग में अच्छी तरह उन्नत इंगलैण्ड और जर्मनी जैसे देशों की सरकारों ने यह कार्य अपने ऊपर ले रखा है कि वे गृह उद्योगों के माल को पूरी तरह खप जाने के लिये भरसक प्रयत्न करें। सरकार ने अवसर-प्राप्त (retired) सैनिकों, निर्धन ग्रामीणों तथा अन्य अशक्त व्यक्तियों के द्वारा बनाई हुई वस्तुओं के लिये विक्रय-केन्द्र (sale depots) खोल रखे हैं। भारत में भी इस कार्य को प्रारंभ करने के लिये यदि सरकार से आवश्यक सहायता प्राप्त हो जाय, तो हमारे गृह-उद्योगों के फलने-फूलने के लिये सब अवसर प्राप्त हैं। उनको सफल बनाने व उन्हें वैज्ञानिक आधार पर उपस्थित करने के लिये यह आवश्यक है कि इन उद्योग-धंधों के पीछे एक संगठन होना चाहिए जो इस बात का अध्ययन करता रहे कि माँग एवं पूर्ति कितनी-कितनी है। उसका काम यह भी हो कि वह जनता को इस बात का आदेश देता रहे कि कम से कम भाव पर कौनसी सर्व श्रेष्ठ गुणों वाली वस्तु किस कच्चे माल से तैयार की जा सकती है। फिर यह प्रश्न है कि क्या हम गृह-उद्योगों को जिस प्रकार वे अभी चल रहे हैं वैसे ही चलने दें अथवा उन्हें समय के परिवर्तन के अनुसार बदल दें और जापान के ढंग पर, जहाँ उत्पादन के ढंग को भिन्न भिन्न छोटे भागों में विभाजित कर दिया गया है, इन गृह-उद्योगों को भी ढाल दें; अथवा जब कि देश में ऐसी बड़ी विस्तृत मानवी शक्ति व्यर्थ पड़ी हुई है, हम परिश्रम बचाने वाले कुछ साधनों का अवलंबन लें या नहीं।

इस समय यह एक मूल प्रश्न प्रतीत हो रहा है। परन्तु यदि हम संसार की ओर देखें जहाँ प्रतियोगिता इतनी अधिक तेज तथा कठोर है और यदि हम जनता की बदलती हुई आवश्यकताओं एवं रुचियों के साथ चलना चाहते हैं, तो हमें गृह-उद्योगों को भी समय की आवश्यकता के अनुसार ढालना होगा।

हमारी भयानक बेकारी की समस्या को सम्पूर्ण देश में फैले हुए जाल की भाँति गृह-उद्योगों का कार्य ही हल कर सकता है।

ऐसा कहा जाता है कि किसी कुटुम्ब के स्वस्थ जीवन के लिए जो छः आवश्यकतायें हैं उनमें से एक कार्य है, और इससे स्वतः सिद्ध बात निकलती है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति के लिए लाभप्रद काम मिल जाय और उसकी उत्पादक शक्तियों को ढंग से जुटाया जाय तो उद्योग, फुर्ती तथा अनुशासन साधारणसी बातें हो जाँय जिनसे परिणाम स्वरूप अन्त में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की परिस्थितियाँ भी अधिक सुरक्षित हो जाँय, क्योंकि तब उसको बढ़ती हुई वस्तुयें और सेवायें प्रचुर परिमाण में मिलेंगी। इसका यही आशय है कि समय के परिवर्तन एवं देश की बढ़ती आवश्यकताओं के अनुरूप माँग तथा पूर्ति का नियम अपने आपको ढाल लेगा। भारतवर्ष में यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इस महत्कार्य की बिलकुल उपेक्षा की गई है और भारतवर्ष की एक बड़ी जन-संख्या काम करने को एक बुरी आवश्यकता समझने

लगी है। महायुद्ध के साथ और बाद को जो औद्योगिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं उन्होंने एक बड़े अंश में छोटे-बड़े प्रत्येक देश के इस दृष्टि-कोण में परिवर्तन कर दिया है, क्योंकि उस समय की अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करने वाली परिस्थितियाँ इस समय बिलकुल बदल गई हैं और प्रत्येक देश, चाहे उसमें प्राकृतिक सुविधाओं की कितनी ही भरमार क्यों न हो, अपने प्राकृतिक साधनों की संभावनाओं को खोजने तथा अपने उद्योगों को बढ़ाने में लगा है, जिससे वह बेकार सामग्री को और अधिक उपयोगी तथा उत्पादक उद्देश्यों की पूर्ति में लगा सके। इसके लिये न केवल अधिक परिश्रम की आवश्यकता होगी, अपितु दक्ष श्रम एवं संगठित प्रयत्न भी चाहिये।

भारतवर्ष में परिस्थिति ठीक इसके विपरीत है। यद्यपि यह देश स्वयं एक बड़ा महाद्वीप है, और प्रकृति भी इस पर अत्यंत प्रसन्न है, फिर भी बेकारी, विशेषकर कुछ ही व्यक्तियों को काम मिलने अथवा अत्यंत कम वेतन पर काम मिलने की समस्या जितनी यहाँ कठिन है, वैसी अन्यत्र नहीं। हम लोग भौतिकतावादी युग में रह रहे हैं और हमें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अत्यन्त कठोर कार्य करना पड़ेगा। वही देश उन्नत नहीं होते जहाँ प्राकृतिक साधनों की भरमार रहती है, किन्तु वे देश उन्नत होते हैं जो कष्ट-सहन एवं अनुभव के आधार पर यह सीख लेते हैं कि जीवन की दशाओं को उद्योग, संगठन तथा विशेषज्ञों की कला-

चातुरी के द्वारा सुधारा जा सकता है। औद्योगिक क्रान्ति जो पिछली शताब्दी के मध्यभाग में इंग्लेण्ड में हुई थी और इसके पश्चात् अन्वेषण की गई शक्तिकलों (Power Machines) ने यूरोपीय देशों को काफी लाभ पहुँचाया तथा उन्हें अग्रराष्ट्रों की श्रेणी में ला खड़ा किया। भारत में अभी तक ऐसा कोई संगठित प्रयत्न नहीं किया गया। यह इसलिए है कि निरक्षरता एवं नेताओं में सूक्ष्म दृष्टि का अभाव बहुत अधिक है। अतएव यही उपयुक्त अवसर है जब कि हमें वैज्ञानिक ढंग स्वीकार करना चाहिये तथा धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए सब प्रकार के गृह-उद्योगों की स्थापना करके व विदेशी और बाहरी माल पर निर्भर न रहकर अपने देश को आत्मनिर्भर तथा सर्व सम्पन्न बनाना चाहिए।

अक्सर किसानों के विरुद्ध यह शिकायत की जाती है कि वे बड़े सुस्त होते हैं और इस कहावत के अनुसार कि ईश्वर उनकी सहायता करता है जो अपनी मदद स्वयं करते हैं वे काम करना नहीं जानते तथा अपने को उन्नत बनाने के लिये उनमें कोई उत्साह नहीं है। यह बिलकुल स्वाभाविक बात है; किन्तु हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि ऐसा क्यों है? इस प्रश्न का अक्सर यही उत्तर मिलता है कि उनकी पैदावार को रक्षा कम मिलती है या उसके लिये माँग ही पैदा नहीं की जाती अथवा वे अत्यधिक धार्मिक मनोवृत्ति के होते हैं। एक समय था जब कि काल व

आवश्यकता के अनुसार भारतवर्ष सदैव आत्म-सम्पन्न था; किन्तु कारण-वश तथा शताब्दियों से जीवन में फैलनेवाली अस्थिरता के कारण सारी वस्तुएँ बिलकुल परिवर्तित हो गई हैं और आत्म-सम्पन्नता का सुवर्ण-युग पुनः लौटकर नहीं आया।

समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। इसलिये आज की आर्थिक माँगों में वृद्धि हो जाने के कारण गृह-उद्योगों को इस अवसर से बढ़कर और अवसर कोई नहीं आ सकता। यह प्रश्न बड़ी बड़ी रकमों को लगाने व अग्रिम धन रखने का प्रश्न नहीं है; किन्तु यह प्रश्न लोगों को अपनी सम्मति के अनुकूल बनाने और शिक्षा तथा प्रचार करने से संबंध रखता है। यही कारण है कि इस प्रश्न को बिना विशेषज्ञों की सम्मति की बारीकियों में गये हुए भी, अथवा विस्तृत संगठनों का सहारा लिये बिना भी अपने हाथ में लेना चाहिए। लोग बोलते और लिखते बहुत हैं, किन्तु उपयुक्त प्रकार के उद्योगों को स्थापित नहीं करते और न कार्य-क्रम को दृढ़ता पूर्वक प्रयोग में लाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अच्छी तरह ज्ञात है कि यदि अन्य देशों की नहीं तो कम से कम भारत की जन-संख्या का अधिकांश भाग ग्रामों से सम्बन्ध रखता है; अतएव हरएक को उनकी सहूलियतों की ओर, स्वास्थ्य, सफाई एवं रहन-सहन आदि सभी दृष्टियों से शहरी जनता की अपेक्षा अधिक ध्यान देना चाहिये। इसी कारण से नगरों की सीमेन्ट व तारकोल की सड़कों की अपेक्षा ग्रामोद्योगों की आवश्यकता अधिक ध्यान देने योग्य है।

सहायक-गृह-उद्योग इस समस्या को अधिकतर हल कर देंगे। गाँव वालों के पास उत्पादन में सहायता न देने वाले अधिक समय के होने के कारण भारतीय ग्रामीण जनता को ये आय के सहायक साधन अधिक उपयुक्त हैं।

बहुत से ऐसे गृह-उद्योग हैं जिन्हें केवल नाम-मात्र की पूँजी के साथ हाथ में लिया जा सकता है। परंतु गाँव वालों को पूरी सच्चाई और देश-भक्ति से पूरित व्यक्तियों की सहायता चाहिये। गृहउद्योग न केवल किसानों को सहायक होंगे, अपितु वे साधारणतः जनता की आर्थिक दशा के सुधारने में तथा दूसरी कठिन समस्याओं के जैसे आबादी के बढ़ने, उच्च शिक्षा व रुचि भेद के कारण उत्पन्न होने वाली पेचीदा समस्याओं के हल करने में भी सहायता देंगे। मेरा विचार यह नहीं है कि मैं फुरसत के समय दी जाने वाली शिक्षा (vocational) की एक लम्बी सूची तैय्यार करूँ और न मैं हाथ की कताई जैसे किसी एक ही प्रकार के गृहउद्योग में ही विश्वास कर बैठा हूँ, यद्यपि उसे प्रोत्साहन देना उचित समझता हूँ। मेरी परिश्रम की परिभाषा विस्तृत है। डाक्टरों और वकीलों का बौद्धिक श्रम इससे पृथक् नहीं है, क्योंकि राष्ट्रीय प्रतिभा ने सृजनात्मक प्रयत्नों के विकास में सहयोग दिया है और आगे भी वह सहयोग देगी। मेरा आशय पूरा हो जायगा यदि जो लक्ष्मी की धारा गाँव से कस्बों तथा कस्बों से नगरों व बाहर प्रवाहित हुई है, वह अपने

प्रवाह को विरुद्ध दिशा में परिवर्तित करदे। भारतीय गाँवों को, एक ही तरीके की अपेक्षा स्वावलम्बन के भिन्न-भिन्न तरीकों को अपनाना होगा। उदाहरण के तौर पर मैं अलीगढ में तालों, बटनों, आदि अन्य प्रकार की छोटी वस्तुओं को ढालने के ढंग से उत्पादन करने के कारण होने वाली उन्नति की ओर ध्यान दिलाना उचित समझता हूँ। इसी तरह कागद, पेंसिलों, दियासलाइयों, तथा स्नान आदि की वस्तुओं का उत्पादन उन क्षेत्रों में किया जा सकता है जहाँ कच्चे माल के प्राकृतिक साधन प्रस्तुत हैं। यद्यपि हमारे देश में स्वतंत्र व्यापार (free trades) का सिद्धान्त लागू है, किन्तु इस पर जनशक्ति व देश की सामग्री का उपयोग करने की दृष्टि से विचार नहीं किया गया। जबतक कि यह सिद्धान्त देश के प्राकृतिक साधनों को बढ़ाने और उनकी रक्षा करने में नहीं लगाया जाता, तब तक शिक्षित वर्ग में परिश्रम करने की इच्छा नहीं बढ़ाई जा सकती है और न देश की बढ़ती हुई जनसंख्या को काम की सहूलियत ही दी जा सकती है, जैसाकि भारत के बाहर किया जा रहा है।

इस समय राष्ट्र-हित के लिए एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण विचार करना होगा जिसकी भारत में इतनी उपेक्षा की जा रही है, और वह है प्रभावशाली नेतृत्व के नीचे सहयोग के साथ काम करने की भावना का नवयुवकों में अभाव। जैसा कि मैं पहिले कह चुका हूँ कि वे हाथ से काम करना बुरा समझते हैं।

विश्वविद्यालयों में सुधार व नवजागृति की आवश्यकता है जिससें नवयुवकों को शिक्षित किया जाय तथा उनमें कर्तव्यपरायणता, सेवा एवं स्वावलंबन की बुद्धि इस सीमा तक भरदी जाय कि उनमें अधिकांश युवक सरकारी नौकरियों के ही पीछे मारे मारे फिरने के बजाय आवश्यकता पड़ने पर, परीक्षोत्तीर्ण होने के बाद खेतों, कारखानों या कम्पनियों में प्रवेश कर सकें और अपने पैरों खड़े होकर कुछ काम सीखने के बाद कोई कारोबार चला सकें।

मुझे पूर्ण आशा है कि जनता और सरकार जो ग्राम-सुधार में रुचि रखते हैं, इस अवसर को नहीं खोवेंगे और ऐसे उपाय काम में लावेंगे तथा इस प्रकार के गृहउद्योग खोलेंगे जिससे हमारी रोटी की व बढ़ती हुई बेकारी की समस्या हल की जा सके।

गृह-उद्योग और शासन

पिछले कुछ वर्षों के भीतर प्रान्तीय और राज्यों के शासनों ने जो ग्रामनिरीक्षण-समितियाँ (रूरल सर्वे कमेटियाँ) नियुक्त की हैं, उनसे यह बात अच्छी प्रकार मालूम हो गई है कि ग्रामों की जनता की एक बहुत बड़ी संख्या की आजीविका केवल खेती से ही संतोषजनक रूप में नहीं चल सकती। इसलिये यह अत्यंत आवश्यक हो गया है कि उन्हें कुछ ऐसे गृह-उद्योग करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय जिनसे उनके अल्प साधनों में वृद्धि हो सके। गृह-उद्योगों को फिर से उठाने के मार्ग में जो कठिनाइयाँ आती हैं, वे पैदा करने वाले और उपभोग करने वाले दोनों की ओर से समान रूप में आती हैं। लगभग आधी शताब्दी से मशीन की बनी हुई चीजों का प्रचार हो जाने के कारण पैदा करने वालों ने अपने

काम का अभ्यास और कारीगरी नष्ट करदी है और उपभोग करने वालों का झुकाव दिखावे की ओर बढ़ गया है। परिणाम यह हुआ कि वे हाथ की बनी हुई मोटी और महँगी चीजों को नहीं खरीदते। वे यह नहीं सोचते कि ऐसा करने से आत्म-निर्भरता आयेगी और राष्ट्र की आर्थिक दृढ़ता बढ़ेगी। ऐसी अवस्था में मेरा यह विश्वास है कि प्रान्तीय और राज्यों के शासन उन मौलिक त्रुटियों का दूर करने में मुख्य काम करेंगे जिनसे कि गाँवों के उद्योगों को हानि पहुँच रही है और इस तरह साहस के साथ अग्रगामी होकर वे उनके प्रगति के लिये अनुकूल परिस्थिति पैदा कर देंगे। इस अध्याय में सुझावों के रूप में वे रूप-रेखायें बतलाई गई हैं जिनके अनुसार भिन्न-भिन्न शासन गृह-उद्योगों को, उनके पुनरुद्धार के लिए एक निश्चित नीति स्थिर करके, किस प्रकार उत्साहित कर सकते हैं।

मुझे अपने ग्रामों के दौरों में बहुत से ऐसे गाँव मिले हैं जहाँ एक या इससे अधिक गृह-उद्योग फूलती-फलती दशा में थे और जिनकी याद वहाँ के वृद्ध लोगों को अभी तक बनी हुई है। उनसे ऐसे सैकड़ों कुटुम्बों को कार्य और भोजन मिलता था जो उन उद्योगों के नष्ट हो जाने के बाद या तो गाँव को छोड़कर ही चले गए हैं या अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे हैं। गाँव के लोगों द्वारा अधिकतर यह कहा जाता है कि गुड़, शक्कर, नमक और कागद पैदा करने वालों के रूप में और लोहे, ताँबे और पीतल के बर्तन बनाने वालों और

सूती तथा उनी कपड़े तैयार करने वालों के रूप में वे अपना व्यवसाय आसपास के कस्बों और शहरो में, बहुत अधिक समय नहीं हुआ, जब किया करते थे। यदि शासन का संरक्षण प्राप्त हो और विशेषज्ञों की तथा आर्थिक और बाजार की आवश्यक सुविधायें दी जायें तो अभी ये गृह-उद्योग पुनर्जीवित हो सकते हैं। यह सम्भव है कि इस नीति के अपनाने से आरम्भ में सरकार को कुछ घाटा उठाना पड़े, परन्तु अब ऐसे संयोग से बचने के लिए कोई चारा दिखलाई नहीं देता।

शासन की नीति का आधार

वे दोनों सिद्धान्त, जिनके अनुसार गृह-उद्योगों की वृद्धि के लिए कोई भी काम-चलाऊ योजना बनाई जा सकती है, ये हैं:—

१. शासन को बजट में कुछ ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये जिससे वह गाँव की बनी हुई चीजों को इतनी मात्रा में खरीद सके कि औसतन गाँव के प्रत्येक व्यक्ति को प्रति वर्ष एक रुपया मिल सके।

२. शासन को अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए गाँव की बनी हुई चीजें काम में लानी चाहिए।

सार्वजनिक व्यय के मामलों में राज्य-प्रबन्ध की नीति को प्रभावित करने वाले सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए समय और परिस्थितियों की माँग का ध्यान रखना चाहिये। जब कि किसानों

के लिए सहायक उद्योगों की व्यवस्था करने की आवश्यकता स्वीकार करली गई है, तब अब केवल यह देखना है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्या-क्या व्यावहारिक उपाय निकाले जा सकते हैं।

आरंभ में, हर एक शासन-प्रबन्ध को, चाहे वह प्रान्तीय हो या राज्य का, बजट में एक ऐसा धन अलग रखने की नीति अपनाने की आवश्यकता होगी जो गृह-उद्योगों की उन्नति के लिए काम में लाया जा सकेगा। यह धन निर्धारित करने के लिए कोई न कोई आधार भी होना चाहिए। इस अनुमान के उद्देश्य के लिए सब से अच्छा और अत्यधिक मानवोचित उपाय यह मालूम देता है कि शासन से गाँव के हर एक कारीगर को हर साल औसतन एक रुपया प्राप्त हो सके। और गाँव की कुल जनता के बराबर एक निश्चित धन, चाहे वह ५० हजार का हो या ५० लाख का, निर्धारित कर देना चाहिये। यह पूँजी जिला या तहसील बैंकों में उनकी आबादी के अनुसार बाँट दी जानी चाहिये और उसको केवल गाँव की बनी हुई चीजों की उन्नति और खरीद के लिए काम में लाना चाहिए।

इस नीति की दूसरी बात, पहली का एक आवश्यक अनुषंग मात्र है, जिसका केवल यह आवश्यक सुझाव है कि गाँव की बनी हुई चीजें राज्य और उसके विभिन्न विभागों की आवश्यकताओं के लिए काम में लाई जानी चाहिये। यदि खरीदी गई चीजें राज्य की आवश्यकताओं से अधिक हों तो ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये कि वे

मारकेटिंग आफीसर द्वारा राज्य के भीतर या बाहर बेच दी जायें। यह स्वाभाविक है कि हाथ की बनी हुई चीजें तुरन्त न बिक सकें, इसलिए सरकार को ऐसा करना अच्छा रहेगा कि पूँजी को पूरा करने के लिए और इस प्रकार जो कमी हो सकती हो, उसको पूरा करने के लिए कुछ सिंकिंग-फण्ड पृथक् रूप से रखें।

संगठन.

केन्द्रीय-स्थानों (हेडक्वार्टर्स) में गृह-उद्योग-उन्नतिसभा (बोर्ड फॉर दी डेवलपमेंट ऑफ कॉटेज-इण्डस्ट्रीज) की स्थापना होनी चाहिए। उसमें स्थायी रूप से प्रबंध करने वाले ऐसे कर्मचारी होने चाहिए जो उक्त कोषों (फण्ड्स) पर नियंत्रण रखें और उसका प्रबंध करें। शासन के सम्पूर्ण विभागों को भिन्न-भिन्न चीजों और आवश्यकताओं की अपनी हर साल की माँगें इस सभा (बोर्ड) को लिख देनी चाहिए जो अपने जिला या तहसील के पदाधिकारियों द्वारा उनकी पूर्ति कराएगा। यह जिला या तहसील कार्यालय की एक शाखा होगी जहाँ शासकीय प्रतिनिधि, बैंक का प्रबंधक (मैनेजर), गाँव की चीजों के खरीदनेवाले, और कोठारी तथा विक्रेता के सम्मिलित कार्य को करेगा। परन्तु वह "जिला-गृह-उद्योग-सभा" के नियंत्रण में रहेगा।

उपयुक्त क्षेत्रों का चुनाव

जब इस योजना को प्रारंभ किया जाय तो यह आवश्यक होगा कि उन क्षेत्रों का निरीक्षण किया जाय जहाँ विशेष उद्योगों

को आरंभ करने के लिए प्राकृतिक सुविधायें हों। कुछ क्षेत्रों और गाँवों में आज भी उन उद्योगों के बचे हुए चिन्ह मिलते हैं, जो उनमें किसी समय फले-फूले थे। इन स्थानों की पुरानीं रीति-रिवाजों के कारण अब भी उनके पुनर्जीवित होने के अच्छे अवसर हैं। हमारे गाँवों के बारे में यह भी सत्य है कि विभिन्न जातियों में पुश्तैनी होनेवाले धंधे चले आरहे हैं और कभी-कभी तो गाँव में जितनी जातियाँ होती हैं, उतने ही उद्योग चालू होते हैं। गाँव की जातियों की इस पुश्तैनी बुद्धि में सुधार के बड़े लक्षण होते हैं जिनका कि पूरे प्रकार से उपयोग किया जाना चाहिये और जिन्हें प्रोत्साहन देना चाहिये।

इसके पश्चात् गाँव की बनी हुई चीजों की डिजाइन और फिनिश की आवश्यकता प्रस्तुत होती है। शासन को बिभिन्न गृह-उद्योगों में विशेष शिक्षा प्राप्त कर्मचारी रखने होंगे, जो गाँवों में लगातार दौरे करते रहेंगे और गाँव के कारीगरों को चीजों की क्वालिटी और डिजाइन सुधारने की शिक्षा देंगे। शिक्षित विशेषज्ञों का यह कर्मचारी-वर्ग इस बात के लिए उत्तरदायी होगा कि वह शासन की पूर्ति के लिए ऐसी चीजें प्राप्त करे जो गाँव के दस्तकारों ने उस नमूने और डिजाइन के अनुसार तैयार की हों जो उनको दिये गये हों। यह लाभप्रद एवं वाञ्छनीय होगा यदि यह कर्मचारी-वर्ग पुश्तैनी धंधा करनेवाली गाँवों की जातियों के लोगों में से शिक्षित किया जाय।

बाजार की सुविधायें

अपनी वर्तमान निर्बल, अनुन्नत और असंगठित दशा में गाँव के भीतर .हाथ की बनी हुई चीजों के क्रय-विक्रय के लिए बाजार का प्रबंध करना शासन का विशेष कर्त्तव्य होगा, क्योंकि सरकारी-पूर्ति के अतिरिक्त गाँव के कारीगर और भी चीजें तैयार करेंगे जिनके बारे में केवल शासन की एजेन्सी द्वारा ही आज-कल की परिस्थितियों में उसकी हाथोंहाथ बिक्री का विश्वास दिलाया जासकता है। जिला या तहसील-स्टोर विभिन्न चीजों की दरें स्थिर करेंगे और गाँव के कारीगर के माल की हाथोंहाथ बिक्री कराने के काम आयँगे।

सहायक-वृत्ति

अन्तिम परन्तु महत्वपूर्ण समस्या आर्थिक सहायक-वृत्ति की है। गाँव के कारीगर इतने कंगाल हैं कि वह उपयुक्त ऋतु में कच्चे माल का स्टाक नहीं कर सकते, जिससे कि वे अपने उद्योग की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। कभी-कभी उन्हें कुछ औजार खरीदने के लिए अतिरिक्त धन की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ भी शासन को उसकी सहायता के लिए आना पड़ेगा और उसके लिए जिला गृह-उद्योग-बैंकों या सहकारी कर्ज देनेवाली समितियों द्वारा रुपया दिये जाने का प्रबन्ध करना पड़ेगा। ये तथा अन्य समान सुविधायें जिन्हें केवल शासन ही दे सकता है इस लेख में सुझाव के रूप में प्रस्तुत की गई हैं जिससे कि उक्त समस्या के व्यावहारिक हल का मार्ग प्रशस्त होसके।

ग्राम-बैंक

मैंने श्रीयुत गोपालकृष्णजी पौराणिक के द्वारा प्रकाशित *'योजना' को बड़ी रुचि के साथ पढ़ा है। इस योजना को तथा ग्राम-सुधार की अन्य योजनाओं को सफल बनाने के लिए मैं गाँव के बैंकों को जारी करने के विचार को प्रस्तुत करता हूँ, जिससे न केवल समय की बचत होगी वरन् पैसे की भीऔर इससे ग्रामीणों के मस्तिष्क से निराशा की भावना भी दूर हो जायगी। मैं इस संस्था में ग्राम-संगठन के बहुत से अन्य कार्यों को सम्मिलित नहीं करना चाहता। अभी तो मै गाँव के बैंकों के विस्तृत विवरण को कार्य रूप में परिणत करने का कार्य अपने-अपने क्षेत्रो में काम करने वाले ग्राम-संगठन करने वालों पर छोड़ता हूँ। फिर भी मैं अपने विचार को अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से गाँव के कार्यकर्ताओं की सहायतार्थ कुछ पँक्तियाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

*यह 'योजना' विद्यामंदिर के अगले प्रकाशन 'ग्रामसुधार के प्रयोग' में मिलेगी।

जैसा कि मैं पूर्व-अध्याओं में लिख चुका हूँ, ऊपर कहे हुए प्रकार का गाँव का बैंक उस ग्राम-क्षेत्र में एक होना चाहिए जिसका क्षेत्रफल ४ वर्ग मील हो, क्योंकि ऐसे ही ग्राम-क्षेत्र में पर्याप्त आबादी होगी जो इसके विकास-कार्य को हाथ में ले सकेगा, योजना की आर्थिक पूर्ति के लिए आवश्यक कोष इकट्ठा कर सकेगा या उसी क्षेत्र से अवैतनिक स्थानीय कार्यकर्ताओं की सेवा भी प्राप्त कर सकेगा। गाँव के बैंक को अग्रमान्य (preference) या साधारण हिस्सों (ordinary shares) के द्वारा अपना कोष इकट्ठा करना चाहिए। विशिष्ट हिस्से केवल विशुद्ध किसानों को ही देना चाहिए, जब कि साधारण हिस्से दूसरे लोगों को, जिनमें शासन भी शामिल है, देना चाहिए, यदि वे उन्हें लेना चाहें। विशिष्ट भाग किसानों को देने से उनमें यह विश्वास पैदा किया जा सकेगा कि उनसे उन्हें वापसी में कुछ अंश मिलेगा और बैंक के दिवालियेपन की दशा में उन्हें अग्रक्रयाधिकार (Pre-emption) का अधिकार प्राप्त होगा।

बैंक के कार्य सर्वतोमुख होने चाहिए और आगे चलकर इसे ग्रामोन्नति के सारे कार्यों को समन्वित करने वाली संस्था के रूप में चलाना पड़ेगा। ग्रामोन्नति से कोई भी ऐसी बात संबंधित नहीं होनी चाहिए जो इसके उद्देश्य से बाहर हो और जिसके लिए यह पैसा इकट्ठा न कर सके या कोई कार्य न चला सके। सारे वैतनिक या अवैतनिक सलाहकारों के रूप में इस योजना के अन्तर्गत नियुक्त किये गए विशेषज्ञों अथवा सरकारी नौकरों को, जो इस बैंक के

पद के अनुसार सदस्यों के रूप में कार्य कर रहे हों, केवल उसी समय अपनी सम्मति (vote) देनी चाहिए जब कि बैंक के सामने उनसे ही संबंध रखने वाले प्रश्न बहस के लिए उपस्थित हों।

हर एक तहसील में एक केन्द्रीय बैंक होना चाहिये। सभी गाँव के बैंकों को इस बैंक से संबन्धित होने या न होने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। यह बैंक उपज के लिए बाजार के कार्य में सुविधा पैदा करेगा और उच्चतर विशेषज्ञों की शिक्षा प्राप्त करने में भी आसानी पैदा करेगा। यह अपने क्षेत्र में औद्योगिक उत्पत्ति को नियमित करने तथा स्थानीय कच्चे माल को पक्के माल में परिणत करने का काम भी करेगा।

निःसन्देह कृषकों की उन्नति के लिए विभिन्न संस्थायें सहकारी आधार पर काम कर रही हैं, परंतु उनमें से अधिकांश में कोई न कोई कमी अवश्य है। या तो उन्होंने अत्यधिक कार्य अपने जिम्मे लिया है अथवा बहुत सी संस्थायें, जो एक दूसरे के ऊपर दबाव डालती हैं, एक ही काम को करने के लिए उत्पन्न हो गई हैं। या तो उन्हें एक बड़े भारी क्षेत्र मे कार्य करना होता है अथवा उन्हें कृषि-क्षेत्र से अत्यन्त दूर नगरों मे सीमित होने की असुविधा का सामना करना पड़ता है। कृषकों को ऋण देने के अतिरिक्त इन संस्थाओं ने अपनी उपयोगिता को सिद्ध करने में असफलता दिखलाई है और ग्रामीणों को आकृष्ट करने में भी वे असफल रही हैं। मैं यह बात अपने व्यक्तिगत अनुभव के अधार पर कह रहा हूँ

कि गाँवों मे स्थापित ग्राम-सुधार-सभाओं ने अधिक संतोष-जनक प्रगति दिखलाई है, और सहकारी संस्थाओं की अपेक्षा बहुत ही अधिक ग्राम-जीवन को सुधारा है। ऐसी दशा में मेरी सम्मति है कि वर्तमान समय में काम करने वाली अन्य संस्थाओं की अपेक्षा गाँव का बैंक अधिक उपयोगी सिद्ध होगा और ग्रामीणों से अधिक सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकेगा।

ये गाँव के बैंक आर्थिक माध्यमों (Financing agencies) के कार्यों को तथा हाट-बाजार को सम्बन्धित करेगा और ग्रामीणों में आत्म-विश्वास का भाव विकसित करेगा। गाँव के बैंकों के कार्य-कर्ता ग्रामीणों के जीवन के साथ अपने अधिक घनिष्ठ सम्पर्क तथा संघ-बैंकों के सहयोग से ग्रामीण जनता के आर्थिक जीवन को सुधारने में अधिक सफल होंगे। ये बैंक अपने साधनों एवं विकास की सीमा के अनुसार अन्य कार्य भी प्रारंभ कर सकेंगे जैसे कि पाठशालाओं की स्थापना, दुग्धशालाओं (Dairy farms) को संचालित करना, सिंचाई की सुविधाओं को उन्नत करना, छोटे-छोटे अधिकार-क्षेत्रों (holdings) को एकत्रित करना और वस्त्र तथा अन्य उद्योगों को समुन्नत करना। सामूहिक और सहकारी क्षेत्रों के आधार पर ये बैंक फसल की लंबी-लंबी उपजों को ले सकते हैं, पहिले तो गाँव की ही खाद्य-सामग्री की आत्म-निर्भरता के लिए और फिर गाँव की सम्पत्ति को बढ़ाने के हेतु अतिरिक्त संचय को बाहर भेजने में भी ये बैंक कार्य कर सकते हैं।

ये सुधार तथा विशेषकर ग्रामीणों की आर्थिक दशा के सुधार उनके जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी प्रगति लायेंगे। ग्रामीण-जनता अपने जीवन के सामाजिक एवं सांस्कृतिक अंगों को विकसित करने तथा अपने जीवन के अधिकांश भाग और अवसरों का सदुपयोग करने के लिए पर्याप्त समय तथा साधन भी प्राप्त करेगी। इन गाँव के बैंकों के कार्यकर्ताओं का यह कर्तव्य होगा कि वे न केवल इन बैंकों के संचालन को स्वावलम्बी बनावें, अपितु उन्हें इनकी आय के द्वारा ही अपनी मासिकवृत्तियाँ भी पैदा करनी होंगीं। इन बैंकों के कार्य-संचालन को संयमित करने के लिए नियम बनाते समय इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि स्थानीय कार्यकर्ताओं को अपनी परिस्थितियों के अनुरूप ऋण लेने और अपनी योजनाओं को सफल बनाने के लिए अन्य उपायों को काम में लाने में अधिक से अधिक संभव स्वतंत्रता देनी चाहिए। विधान अथवा नियम बनाने की प्रवृत्ति यही होनी चाहिए कि जितनी ही दफ्तरी घिसघिस (red tapism) कम होगी उतने ही अधिक उपयोगी परिणाम निकलेंगे।

'छरच': एक प्रयोगशाला

*मुझे आपके पिछले ग्राम सुधार परिषदों में सम्मिलित होने का अवसर मिला है। मुझे यह देखकर प्रसन्नता होती है कि आपका उत्साह इस ग्राम–सुधार प्रगति में निरन्तर बढ़ता जा रहा है। बिलौआ से छरच तक ९ मील की मोटर जाने लायक सड़क बनाकर तैयार करना, और इस कूनों नदी के तट पर केवल दो दिन में इस ग्राम-सम्मेलन का यह विशाल आयोजन खड़ा कर देना इस बात का प्रमाण है कि आप को इस कार्य की कितनी लगन है। यह आपकी तीव्रता और तत्परता अवश्य ही इस जागीर के सुन्दर भविष्य की सूचक है।

---

*पोहरी-जागीर-ग्राम-सुधार-परिषद के छरच ग्राम पर आयोजित २१ अप्रेल सन् १९४० ई० के अधिवेशन में दिया गया भाषण।

इस अवसर पर श्रीमन्त महाराजा साहेब सौंढूर का आपके ग्राम में कुछदिन आकर ठहरना व इस परिषद में उपस्थित होना ऐसी घटना है, जिस पर आपको और मुझको आनन्द होना स्वाभाविक है। मैं उनकी इस कृपा के लिये आप सबकी ओर से उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। जंगल और पर्वतमाला से घिरे हुए इस एकान्त प्रदेश में सड़क द्वारा आने जाने का मार्ग सुगम बनाकर आपने अपने आपको सभ्य संसार के समीप लाने का सफल प्रयत्न किया है। इतना ही नहीं जंगलों और पहाड़ों ने जो रास्ता रोककर आपको अबतक सभ्य संसार के सम्पर्क से दूर रख छोडा था, उस रुकावट को आपने अपने परिश्रम से मिटा कर बाहर के योग्य, विद्वान्, बुद्धिमान और श्रीमान् अतिथियों के लिये अपने यहाँ बुलाने का स्थाई आमंत्रण दे दिया है। देश-काल की परिस्थिति से सम्यक परिचय और सम्बन्ध रखना और अपने आपको किसी से कमजोर न समझना यह उन्नति और विकास का मुख्य चिन्ह है। आपने इस तत्त्व को समझकर उसके अनुसार चलने का प्रयत्न किया है, यह देखकर मुझे बड़ा सन्तोष है।

यहाँ के नई पीढी के नवयुवकों ने मिडिल और मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त की है और उन्हीं सुशिक्षितों में से आपके स्वागताध्यक्ष होकर इतना सुन्दर भाषण पढ सके, इससे यह बात स्पष्ट होती है कि आप ग्राम-सुधार के मुख्य तत्व को समझते हैं। यह तत्व सर्वथा स्वावलम्बी होना है अर्थात् अपने पैरों पर खुद खड़ा होना है।

अपनी आवश्यकता के लायक हमको खुद ही पढ़ा लिखा होना चाहिये, जिससे हमको दूसरे का मुँह न ताकना पड़े, दूसरा हमको धोखा न दे सके, दुनियाँ में क्या हो रहा है इसकी जानकारी हमको ठीक समय पर होती रहे और उसमें जो हमारे लाभ की वस्तु ह उसे हम जिज्ञासुओं की तरह हमेशा लेने को तयार रहें। यही अज्ञान छोड़कर सज्ञान दशा में आना है। जैसा कि आपको माळूम होगा दुःख का मूल कारण अज्ञान है। इसलिये जिन्हें दुःख से छुटकारा पाना हा उन्हें अज्ञान छोड़कर ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

जैसे मन और बुद्धि के विकास के लिए ज्ञान, नीति और कर्तव्य की आवश्यकता है, वैसे ही इस संसार में शरीर को सुखी और स्वस्थ रखने के लिये भोजन और वस्त्र की आवश्यकता है। मेरे विचार से इस रोटी के प्रश्न को सन्तोष जनक रीति से हल करने के लिये ही इस देश में ग्राम-सुधार-प्रगति का जन्म हुआ है। कई कारणों से इस देश के निवासी और मुख्यतः ग्रामों में रहनेवाली किसान प्रजा अत्यन्त दरिद्र अवस्था में है। परिस्थिति ऐसी भी निर्माण हो गई है कि उनको पेट भर अन्न और तन ढकने को पूरे कपड़े भी नहीं मिलते। यहाँ यह विचार करने से कोई लाभ नहीं है कि ऐसा क्यों हुआ, किन्तु इस बात में आप कभी सन्देह न कीजिये कि समस्त देश की अन्तरात्मा और सभी वर्ग के आदमी चाहे वे शासक हों अथवा शासित, सब की सहानुभूति ग्रामवासी

और किसान लोगों से है, जो बहुत दुखी और दरिद्री हैं। और वे सब अपनी अपनी परिस्थिति और शक्ति के अनुसार इस बात में योग देना चाहते हैं कि उनको पेट भर अन्न और शरीर ढकने को कपड़े तो मिल ही सकें। आप इस बात को छोटी न समझिये कि आपके विषय की न्यायानुकूलता सब को मान्य हो चुकी है और सबकी सहानुभूति आपके साथ है। जब ग्राम-सुधार की प्रगति का आधार इतना दृढ़ है तब मुझे तो इसमें कोई शंका नहीं है कि आपकी सुदशा और उन्नति अवश्य होगी।

परिषद के स्वागताध्यक्ष के भाषण को मैंने बहुत ध्यानपूर्वक सुना है; और इस डँगासरे के जंगली इलाके की जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी होने के लिये जिन जिन प्रश्नों पर उसमें विचार किया गया है उनका हल क्या हो सकता है, इस पर भी मैंने विचार किया। स्पष्टतः कुछ बातें तो ऐसी हैं जिनको यहाँ के निवासी आपस में मिल जुल कर स्वावलम्बन पूर्वक और अपने भरोसे पर ही कर सकते हैं। लेकिन आपकी आर्थिक उन्नति के सम्बन्ध में कुछ बातें ऐसी भी इस परिषद के विचारणार्थ लाई गई हैं जिनमें शासन की ओर से भी सहायता और सुभीते मिलने की आवश्यकता बतलाई गई है। और आपको विदित है, आपके शासक और अध्यक्ष दोनों नाते से मेरी पूर्ण सहानुभूति आपके साथ है, और इस बात से बढ़कर मुझे क्या आनंद हो सकता है कि शासन की ओर से आपको कुछ सुभीते दिये जावें जिससे आपकी

आर्थिक उन्नति हो और आप सुखी हो सकें। आपकी मुख्य समस्यायँ दो हैं—(१) तालाब बनवाना अथवा कुँओं को गहरा करवाना, व (२) पशुपालन और घी की उत्पत्ति से अपनी आमदनी और बढ़ाना। इस सम्बन्ध में मैं अपना मन्तव्य आपके सामने स्पष्ट रखता हूँ।

यहाँ मैं आवश्यक समझता हूँ कि आपका ध्यान ग्राम सुधार के कुछ मूल तत्वों पर आकर्षित करूँ और आगे आप से उनके अनुसार चलने की आशा रक्खूँ। अभी आपने ग्रामसुधार के सम्बन्ध में भाषण सुने हैं, उनसे एक ही ध्वनि निकलती है कि आप सब स्वावलम्बी बनें और अपने पैरों पर खड़े हों। आपने यह अवश्य सुना होगा कि परमात्मा उसकी सहायता करता है जो अपनी सहायता स्वयं करता है। अभी आपके अपने उदाहरण से भी यह बात अच्छी तरह समझ में आ गई होगी। यदि आप परिश्रम करके और अपना पसीना बहाकर बिलौआ से यहाँ तक रास्ता ठीक न करते तो ग्राम-परिषद् होने का यह सुअवसर न आता। यह सब इसलिये हो सका कि आपने प्रयास करके सड़क बनाई जिससे लोग यहाँ आ सके। यदि आप उसी प्रकार तालाब बाँधने अथवा कुओं को गहरा करने अथवा अपने ग्राम की उन्नति सम्बन्धी किसी भी काम को कमर कस कर स्वयं करने को तैयार न होंगे और शासन अथवा किसी दूसरे पर विश्वास करके केवल दरख्वास्त देते रहेंगे तो ऐसा समझिये कि वह काम कभी नहीं हो सकता। परन्तु यदि आप अपने उद्धार सम्बन्धी किसी काम को करने को

स्वयं कमर कस कर उठ जावें और कुछ करके भी दिखा दें, उस समय यदि ऐसा मालूम हो कि वह काम कठिन है अथवा आपकी शक्ति के बाहर है और उसमें शासन की सहायता की आवश्यकता है, तो मैं समझता हूँ कि शासन आपकी सहायता करने से कभी पीछे न हटेगा। शासन कितना भी दयालु क्यों न हो, परन्तु जब तक आपके काम में तन्मयता और लगन न देख लेगा, तब तक उसकी समझ में यह बात कैसे आ सकती है कि आपको कोई कष्ट है; और उसको मिटाने की आपको सच्ची लगन है। कोई कष्ट चीखने, चिल्लाने और पुकारने से दूर नहीं होता। उसे निवारण करने के लिये आदमी को सतत प्रयत्न करना चाहिये। सबसे पहले अपने आपको कर्त्तव्य में जुटाना चाहिये जिनसे कि अपने कार्य की सिद्धि हो। अभी जो प्रजा को अपने ऊपर कम से कम भरोसा है तथा हितचिन्तकों व राज्य-शासन पर इतना अधिक विश्वास है जितना कि वे कभी कर नहीं सकते, यह सर्वथा भ्रम-मूल है। इस भ्रमात्मक मनोवृत्ति को आप अवश्य दूर करें और "उद्धरेदात्मनात्मानं" अर्थात् अपने प्रयत्न से अपना उद्धार करने के तत्व को भली प्रकार समझ कर आचरण करें।

ग्राम-सुधार का दूसरा मुख्य तत्त्व सहकारिता अथवा आपस में मिलकर काम करना है। आपसी फूट से अपने देश को क्या हानि हुई यह सबको विदित है। इसी फूट के रोग से यह देश बिगड़ा है, ग्राम बिगड़े हैं और घर बिगड़े हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि हम

अपने स्वार्थ के अतिरिक्त अपने पड़ोसी का स्वार्थ भी नहीं सोच सकते और दो मिलकर अथवा एक मुहल्ला, जाति अथवा ग्रामवाले मिलकर सार्वजानिक लाभ या हानि में कोई दिलचस्पी नहीं लेते। सीधी और सत्य बात तो यह है कि सब के भले में अपना भला समझना चाहिये। जब कुए में ही पानी न होगा तो डोल अथवा लोटे में कहाँ से आ सकता है ? उसी प्रकार यदि गाँव भर में मेल नहीं है तो एक घर में मेल कहाँ तक रहेगा ? लोग आपस में मिलकर एक गाँव अथवा एक दूसरे की भलाई न करते हुये एक दूसरे का विरोध और हानि पहुंचाने की चेष्टा में लगे हैं जैसा कि आज कल ग्रामों में पाया जाता है। ऐसी अवस्था में आप लोगों का भला कैसे हो सकता है ? और आपके ग्रामों की दशा कैसे सुधर सकती है ? मुझ से ही अगर आप के ग्राम का एक आदमी अपने दुःख दर्द की एक बात कहने आवे और जब दूसरा आदमी मिलने आवे तो ठीक उसके विपरीत कहे, और चार आदमी कभी सबकी भलाई के सम्बन्ध में कोई बात सिवाय अपने निजी मामले के मेरे सामने न रक्खें, तो मुझे भी आप पर कैसे भरोसा हो, और जो भला मैं कर सकता हूँ वह किस आधार पर करूँ ? सबको मिल कर सब की भलाई की बात सोचना और करना, यही तो ग्रामपञ्चायतों का मूल तत्व है। जब पहले अपने यहाँ ग्राम अच्छी दशा में ओर सुखी थे तब गाँवों में ऐसी पञ्चायतें थीं। प्रत्येक ग्राम मे ऐसे आदमी होते थे जो सदा सब की भलाई करते थे।

और कभी किसी का बुरा करने में भाग न लेते थे। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि जब अपने दुर्दिन आये तो वह पहले की सुव्यवस्था बिगड़ गई और जिनका काम भला करने का था वे अपने स्वार्थ साधन के लिये दूसरों का बुरा करने लगे। आज हम देखते हैं कि इस ग्राम-सुधार के सम्बन्ध में उस पञ्चायत प्रथा की कितनी आवश्यकता है। आपसी सहकारिता अथवा मेल के बिना पञ्चायतें कैसे चल सकती हैं ? कैसे ग्रामों का संगठन हो सकता है। बात तो यह है कि यदि आप सब मिलकर काम न करते तो चार अथवा पाँच मनुष्य बिलौआ से यहाँ तक कैसे सड़क डाल देते। और यह आपकी परिषद् यहाँ कैसे हो सकती थी ? यदि आप सब मिलकर काम न करें तो बीज-भण्डार कैसे स्थापित हो सकेंगे और अच्छा बीज लोगों को कैसे मिल सकेगा ? विवाह के समय और मरने के समय शास्त्र विहित कर्म करने की आज्ञा है जिससे प्राणी को मुक्ति मिलती है; किन्तु वह काम तो बहुत थोड़े ही व्ययसे हो सकता है और वैसा करना भी चाहिये। पर आजकल लोग कर्म और कर्तव्य तो भूल गये और दिखावटी फालतू खर्च करना सीख गये। ये फालतू खर्च ऐसे बढ़े कि लोग एक दूसरे से अपव्ययों में प्रतिस्पर्धा करने लगे। फल यह हुआ कि लोग ऋणी हो गये।

धर्म का सच्चा अर्थ दूसरों की सेवा तथा देश की आर्थिक, शारीरिक और मानसिक उन्नति करना है। ऐसा कार्य करना चाहिये

जैसा कि हमारे पूर्वज करते थे न कि वह जिससे केवल वैयक्तिक उन्नति, लाभ व शक्तिवर्धन हो। इसलिये आपको इस प्रकार खर्च तथा कार्य करना चाहिये जिससे आप अपने पूर्वजों के ऋण से मुक्त हो सकें और भविष्य में भी ऋण लेने से बच सकें। ऋण-भार होते हुये मुक्ति नहीं हो सकती। मुक्ति पाने के लिये सबसे पहली बात ऋण से मुक्ति पाना है।

ग्रामों के उद्योग, घरेलू धन्धे और अपनी आवश्यकता की सभी चीजों का स्वयं ही बनाकर अपनी अवश्यकता पूरी करना तथा अपने पैसे को बाहर नहीं जाने देना, इसके महत्व पर आज सबेरे ग्रामोद्योग प्रदर्शिनी का उद्‌घाटन करते समय श्रीमन्त महाराजा साहब सांडूर ने अच्छा विवेचनात्मक प्रकाश डाला है। मैं इस समय आप का उस सम्बन्ध में विशेष समय लेना नहीं चाहता; केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि मोटर, रेल और हवाई जहाजों के कारण संसार का क्षेत्र बहुत बड़ा हो गया है। बाहर दुनियाँ में समस्त आवश्यकताओं की चीजें अच्छी से अच्छी बनने लगी हैं और गाँव वाले तक भी उनसे चकाचौंध हो गये हैं। उन अच्छी चीजों के सामने हमारे ग्रामों और घरों में बनने वाली चीजें तभी अच्छी चल सकती हैं जब वे सफाई और अच्छाई में बाहर की चीजों के समान ही अच्छी दिखें। यह बात सहज ही आपकी समझ में इस प्रकार आ जायगी कि अपने यहाँ जो 'कल्याण कुटी' पर कपड़ा बनता है, वह अपनी जागीर में ही नहीं किन्तु जागीर से

बाहर ग्वालियर तथा बोम्बे, तक भी बिकने को जाता है। उसी प्रकार कागज बनना अभी शुरू हुआ है; यदि वह अच्छा बनने लगेगा—जिसके बनने की पूर्ण आशा है, तो कोई कारण नहीं, कि बाहर के बाजार में उसकी माँग न हो और बाहर से यहाँ पैसा न आने लगे। उसी प्रकार शकर बनाना, लोहे और दूसरी धातुओं के सामान बनाने के काम को, जिन लोगों का यह पेशा है उनको इन व्यवसायों को फिर से पुनरुज्जीवित करना चाहिये और अब अपनी चीजों को अपनाने की और घरेलु धन्धों को उत्तेजन देने की समस्त देश में जो लहर आई हुई है, उससे लाभ उठाना चाहिये। इन सब उद्योग धन्धे वालों को विश्वास रखना चाहिये कि उनकी सद्प्रवृत्ति में जागीर से उनको सहायता अवश्य मिलेगी।

मैं समझाता हूँ कि इस वक्तव्य में ग्रामसुधार प्रगति की आधार मूल बातों पर विचार किया जा चुका है और कुछ विस्तार पूर्वक उन पर विचार किया जाना इसलिये आवश्यक हुआ है कि पोहरी जागीर और आदर्श-सेवा-संघ ने देश व्यापी इस ग्रामसुधार प्रगति में पिछले दश वर्षों में अपना एक प्रमुख और आदरणीय स्थान बना लिया है। जब परमात्मा किसी को नाम अथवा यश देता है तब उसके साथ ही साथ यह कर्त्तव्य भी आ जाता है कि वह अपने काम से उस नाम को हमेशा सार्थक करता रहे। लोग बाहर यह आशा करने लगे हैं कि ग्रामसुधार की दिशा में पोहरी से कोई नया मार्ग सुझाया जायगा तथा कोई नया आदर्श उपस्थित किया जायगा। प्रभु को अनेक धन्यवाद है कि अब तक उस बड़े

नाम की रक्षा होती रही है। पिछले दो वर्ष से आपके यहाँ के 'आदर्श सेवा संघ' ने बम्बई से "Rural India" अर्थात् 'ग्रामीण भारत' नामक अंग्रेजी में पत्र निकाल कर ग्रामसुधार की सार्वदेशिक प्रगति में आगे पैर रखा है। आपकी जागीर के लिये यह बड़े गर्व की बात है कि ग्रामसुधार के कल्याणकारी क्षेत्र में यह एक मात्र सार्वदेशिक पत्र है जो देश की बड़ी उपयोगी सेवा कर रहा है।

अभी परिषद के सामने संघ के अध्यक्ष ने जो भाषण दिया है उससे मुझे यह जानकर बड़ा संतोष हुआ है कि "Rural India" के आदर्श को पूरा करने के लिये संघ ने ग्रामसुधार की रचनात्मक दशा में एक दस वर्षीय कार्यक्रम हाथ में लिया है। अपनी जागीर के लिये यह दसवर्षीय कार्यक्रम बहुत साहस तथा महत्वपूर्ण बात है। आप सब समझते ही हैं, और मुझे यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इस कार्यक्रम को हाथ में लेकर आदर्श-सेवा-संघ व पोहरी जागीर ग्रामसुधार परिषद ने अपने ऊपर एक बड़ा उत्तरदायित्व लिया है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य तो स्पष्ट ही है कि जागीर के सब ग्रामों की शिक्षा, सदाचार, और रहन-सहन सम्बन्धी उन्नति तो की ही जायगी, किन्तु इस कार्यक्रम की सफलता इस बात से मापी जायगी, कि आज जो जागीर के ग्रामों के आदमियों की प्रति मनुष्य १) रुपया या १।) रुपया मासिक आमदनी है, वह दस वर्ष के अन्दर बढ़कर ५) (पाँच रुपया) मासिक तक पहुँच जावे अर्थात् आज एक आदमी की जो मासिक आमदनी है वह दस वर्ष में चार गुनी हो जाय।

यह बात कहने में जितनी सरल दिखती है करने में उतनी ही कठिन होगी। मैं समझता हूँ कि इस बात में किसी को भ्रम न होगा

कि इतना बड़ा साहसपूर्ण कार्य रुपये अथवा सत्ता की सहायता से ही पूरा नहीं हो सकता। किसी भी देश में ऐसे साहस पूर्ण कार्यों का आधार इन बातों पर नहीं होता। इन बड़े कार्यक्रमों की सफलता का आधार उस भावना पर होता है जिसका आरंम्भिक प्रदर्शन इस छरच केन्द्र तक सड़क डालकर किया है, और जिस काम में आदर्श-सेवा-संघ के कार्यकर्त्ताओं ने वेतन और पेन्शनों के लालच से नहीं, किन्तु अपने जन्मस्थान और देश के गौरव की निस्वार्थ भावना से प्रेरित होकर अपना रात और दिन एक कर दिया है। देश और जातियों का उत्थान अथवा निर्माण धन और सत्ता के सहारे नहीं होता, किन्तु उस भावना और स्पिरिट के सहारे होता है, जिसमें जनता और जनसेवी कार्यकर्त्ताओं की आपस में इस बात की होड़ हो कि कौन किससे अधिक निस्वार्थता, त्याग और साहस का परिचय देवें।

यद्यपि समय अधिक हो गया है, तो भी मैं बेटियों से दो शब्द कहे बिना अपना भाषण समाप्त नहीं कर सकता। मैं यह देख रहा हूँ कि जितना उत्साह इस परिषद् में पुरुष दिखा रहे हैं, बेटियाँ भी उतने ही उत्साह से कार्य कर रही हैं। उम्र के हिसाब से हर बेटी किसी न किसी घर की गृहणी होगी और उसको अपने गृहकार्य में बुद्धि से काम लेना पड़ेगा। जब तक बेटियों का उचित प्रकार से शिक्षण पीहर में न होगा, तब तक वे घर को सुखी व शान्तिमय नहीं बना सकतीं।

पत्नी घर की स्वामिनी होती है। उसका पति के सहवास में क्या कर्तव्य होना चाहिये, उसका नीति में इस प्रकार वर्णन किया है:—

कार्येषु मंत्री, वचनेषु दासी,
भोज्येषु माता, शयनेषु रम्भा,
धर्मानुकूला क्षमया धरित्रि,
स्त्रियाणि एतत् कुलमुद्धरंति।

अर्थात् भोजन खिलाते समय वह माता का स्वरूप धारण करे, सलाह के समय मंत्री का रूप धारण करे और खेलकूद के समय मित्रका रूप आदि।

जब तक नारी जाति इस स्थिति तक नहीं पहुँचेगी तब तक गृहसुख प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये स्त्री जाति को शिक्षा देने की आवश्यकता है। जैसे पुरुष बाहर मिहनत व मजदूरी करता है वैसेही घर में स्त्रियाँ गृह कार्य कर के पुरुष की मदद नहीं करेंगी तब तक उन्नति नहीं हो सकती। बिना उनकी सहायता के पुरुष अकेला कुछ नहीं कर सकता। दूध दही आदि पदार्थों की उत्पत्ति का उत्तरदायित्व स्त्रियों पर है, जिस पर कुटुम्ब की शक्ति तथा वृद्धि अवलम्बित है। कहावत है, गाड़ी दोनों पहियों से चलती है। उसी प्रकार संसार और उसकी उन्नति के लिये, जबतक स्त्री और पुरुष की जोड़ी ठीक नहीं होगी, काम नहीं हो सकता। इसलिये पुत्रियो! तुम को अपना ज्ञान, विद्या व बुद्धि बढ़ाने का पूरा प्रयत्न करना चाहिये, और गृह-प्रबन्ध में कुशल होना चाहिये।

ग्राम-पंचायत के साथ साथ जो ग्राम-रक्षक दल की जागीर में स्थापना की गई है, उसमें मै शिथिलता देखता हूँ। इस दल का उपयोग आपको रोज रोज नहीं मिल सकता है, पर आप के ग्राम रक्षण में यह बड़ा उपयोगी होगा—ऐसा मेरा पूरा विश्वास है। मुझे आशा है, भविष्य में इस दल में शिथिलता न रहेगी।

यहाँ आने पर परिषद में दिये गये भाषणों से और प्रत्यक्ष भी मालूम हुआ है कि छरच सरकल में पानी की कमी की वजह से कछार में भी रवी की फसल समाधानकारक नहीं हुई; जहाँ कछार नहीं हुई, वहाँ का तो लगान लिया ही नहीं जावेगा, उसपर भी जहां कछार हुई लेकिन पानी पूरा न मिलने से अच्छी नहीं हुई, वहां का भी कछार का लगान इस साल मुआफ किये जाने की आज्ञा दे दी गई है।

मैं प्रार्थना करता हूँ, कि प्रभु जागीर के ग्रामों की जनता और उन की सेवा करनेवाले कार्यकर्त्ताओं को त्याग और साहस की भावना से ओतप्रोत करें व सत्ता के लोभ से मुक्त रखें जिससे वे इस दस वर्षीय कार्यक्रम को सफल कर अपनी जन्मभूमि के लिये सुयश उपार्जन कर सकें।

अन्त में मैं एकबार फिर से आपने जो मेरा सत्कार किया है उसके लिये हृदय से धन्यवाद देता हूँ।